प्रकाशक राका प्रकाशन
नज़ीराबाद लखनऊ
मुद्रक बनारसी दास मेहरोत्रा
रामा प्रेस लखनऊ
मूल्य आठ रुपये

'विस्तुका' रूप किन नियमों से हो गया अथवा भवति का 'होइ' रूप कैसे बना आदि इस बात के लिए प्रेरित करते थे कि छात्रों एवं अपने मान्य विद्वानों के हाथों में हिन्दी भाषा में एक ऐसी पुस्तक समर्पित की जाय जिससे कि उनके औत्सुक्य तथा कौतूहल का कुछ शास्त्रीय समाधान हो सके । अतः प्रस्तुत ग्रन्थ का यही प्रयोजन है ।

इस पुस्तक में प्राकृत भाषाओं का विवेचन वररुचि के प्राकृत प्रकाश के आधार पर ही किया गया है क्योंकि उनका यह ग्रन्थ प्राकृत व्याकरण का प्रामाणिक ग्रन्थ है ।

आशा है कि पाठक इस ग्रन्थ से कुछ साहित्यिक रसास्वाद अवश्य प्राप्त कर सकेंगे । क्योंकि —

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोग विज्ञानम् ।

दीपावलिका
(१९९१)

विदुषां वशंवद —
नरेन्द्रनाथ

'विच्छुओ' रूप किन नियमों से हो गया अथवा भवति का 'होइ' रूप कैसे बना आदि इस बात के लिये प्रेरित करते थे कि छात्रों एवं अपने मान्य मित्रों के हाथों में हिन्दी भाषा में एक ऐसी पुस्तक समर्पित की जाय जिससे कि उनके औत्सुक्य तथा कौतूहल का कुछ शास्त्रीय समाधान हो सके। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ का यही प्रयोजन है।

इस पुस्तक में प्राकृत भाषाओं का विवेचन वररुचि के प्राकृत प्रकाश के आधार पर ही किया गया है क्योंकि उनका यह ग्रन्थ प्राकृत व्याकरण का प्रामाणिक ग्रन्थ है।

आशा है विज्ञ पाठक इस ग्रन्थ से कुछ साहित्यिक रसास्वाद अवश्य प्राप्त कर सकेंगे। क्योंकि :—

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।

दीपमालिका
(१९६१)

विदुषां वशंवद —
नरेन्द्रनाथ

प्रस्तावना

भारतीय आर्य भाषाओं के विकास तथा प्रसार में प्राकृत भाषायें निश्चित शृंखलायें हैं। इतिहास के निर्माण में आदि मध्य एवं अवसान की सभी घटनायें परस्पर अनुस्यूत होती हैं। प्रत्येक भाषा की शब्दावली स्वयं अपने स्वरूप में एक विस्तृत इतिहास है। शब्दों के स्वरूप सतत परिवर्तित होते रहते हैं और व्यक्ति अपनी सुविधानुसार उनका रूप बोलियों में विकृत अथवा परिष्कृत कर लेता है।

संस्कृत साहित्य के रूपकों तथा उपरूपकों में महाराष्ट्री शौरसेनी पैशाची तथा मागधी प्राकृतों का प्रयोग परम्परा से होता चला आया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक नाटककार संस्कृत के साथ ही साथ इन प्राकृत भाषाओं का भी पूर्ण ज्ञान उपलब्ध करता था। प्राकृत भाषाओं का संस्कृत से अधिक साम्य है। प्रतीत होता है कि प्राकृतजनों में उच्चारण के भेद से एक ही शब्द के अनेक रूप प्रचलित हो गये और उनका प्रयोग प्रचुर मात्रा में होने लगा। कालान्तर में इन शब्दों को कुछ नियमों में बाँधा गया और उन्हीं नियमों को प्रतिपादित करने वाले ग्रन्थ प्राकृत भाषाओं के व्याकरण के नाम से व्यवहृत हुए।

संस्कृत के द्वादश के स्थान पर हम सम्प्रति हिन्दी भाषा में बारह का प्रयोग तो करते हैं पर यह बारह द्वादश से किन रूपों द्वारा अपने वर्तमान स्वरूप में आया इस ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। इसी प्रकार षष्ठी से छट्ठी फिर छट्ठी से छठी कैसे परिवर्तित हुए? इन रूपों को किस प्रकार तथा किस क्रम से वर्तमान रूप प्राप्त हुआ? इसके सम्बन्ध में हिन्दी में शास्त्रीय शैली पर लिखी गई कोई मौलिक पुस्तक नहीं थी। उधर उपाधि परीक्षाओं में अध्ययन करने वाले छात्रों की यह उत्सुकता कि 'वृश्चिक' का

॥ श्री वाक् पतये नमः ॥

अहो तत् प्राकृतं हारि प्रिया वक्त्रेन्दु सुन्दरम् ।

सूक्तयो यत्र राजन्ते सुधा निष्यन्द निर्भरा ॥

× × × ×

संस्कृतात् प्राकृतं श्रेष्ठं ततो ऽपभ्रंश भाषणम् ॥

× × × ×

अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तद् तद् देशेषु भाषितम् ।

× × × ×

व्याकेषु प्राकृतस्यैव गिर परिख्याति गता ॥

प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति—विभिन्न मत

आन्तरिक रमणीयता बाह्य सौन्दर्य सापेक्ष्य अवश्य होती है। कला की पूर्णता तथा महत्ता यही है कि वह अनुभूत्यात्मक हृदय की कोमल भावनाओं के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर सके। यही रूप-संविधान चित्त तथा इन्द्रियों की वृत्तियों को स्वाभिमुख आकृष्ट करता है। हृदय के आह्लाद के लिये वस्तु-स्वरूप तथा वस्तु-सविधान दोनों ही आवश्यक हैं। उपपत्ति के लिये नितान्त आवश्यक है कि उसका समुचित उपस्थान भी किया जावे। धूलि में पड़ा हुआ गुलाब का कोमल कुसुम कबरी-मेखला में ग्रथित होकर ही अधिक सुख तथा रम्य प्रतीत होता है। गन्दे तालाब के किनारे मालीन बक-पंक्ति श्याम घन-घटाओं में उड़ती हुई बक-पंक्ति का सन्तुलन कैसे कर सकती है? स्वर्णकार अपनी कल्पनाओं की उपपत्ति को मणि-काञ्चन के उपस्थान से ही आभिरामिक बनाता है।[1]

कुशल शिल्पी की मानसिक अनुभूत्यात्मक आकृति तक्षण-कला के द्वारा जिस रूप का संविधान करती है उसके लिये समुचित तथा व्यवस्थित उपकरण भी उपादेय होते हैं। चित्रकार भी तूलिका रंग पट एवं अन्यान्य उपकरणों के साहाय्य से ही अपनी कृति को कुशलता पूर्वक उपन्यस्त करता है। साध्य की सिद्धि के लिये साधन-सम्पन्नता नितान्त आवश्यक है।[2]

साहित्यिक कलाकार भी भावाभिव्यक्ति के लिये प्रमुख रूप से भाषा के ही आश्रित होता है। भाषा विचारों तथा अनुभूतियों को केवल आकार ही प्रदान नहीं करती प्रत्युत उनको अन्य संवेद्य भी बनाती है—साथ ही स्थायित्व भी प्रदान करती है।[3]

जिस भाषा के माध्यम से व्यक्ति अपनी शैशवावस्था से ही कुछ सोचता, समझता या विचार करता है या जिस भाषा के द्वारा मातृगर्भ से वियुक्त होने पर मन में संस्कारों का अदृश्य रूप से संचय करता रहता है वही उसकी मातृ भाषा कहलाती है। जो बोली उसके वातावरण को प्रभावित करती है वह उसको भी अवश्य प्रभावित करती है और वह स्वयं उसी भाषा में अपने आप सोचता विचारता भी है। यही उसकी स्वाभाविक भाषा बन जाती है।[4]

जन साधारण, अशिक्षा के कारण स्वाभाविक तथा सरल उच्चारण के कारण तथा संक्षेप की प्रवृत्ति अथवा प्रयत्न लाघव के कारण भाषाओं के मूल शब्दों के भिन्न भिन्न उच्चारण करता है। यह प्रक्रिया निरन्तर प्रवाहित रहती है और इस प्रकार अनेक शब्द तथा ध्वनियां बनती और बिगड़ती रहती हैं। १

साधारण मनुष्य भाषा के सरल से सरल तथा मधुर रूप के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति चाहता है। भाषाओं के शुद्ध रूपों तथा व्याकरण सम्मत प्रयोगों की वह अपेक्षा नहीं करता और इस प्रकार शब्दों की मूल प्रकृति चाहे कुछ भी हो उससे उसको विशेष प्रयोजन नहीं होता। वह तो उस मूल प्रकृति से निष्पन्न प्राकृत शब्दों का ही प्रयोग करता है। वे ही सुगम सरल तथा मधुर प्रतीत होते हैं। जो पद बिना किसी विशेष प्रयत्न तथा बनावट के स्वयं निकलते हैं उन्हीं का प्रयोग किया जाता है। शास्त्रीय वैज्ञानिक शुद्ध प्रयोग लोक भाषा में न्यून ही होता है। इस प्रकार शब्दों की मूल प्रकृति से सम्बन्धित अनेक प्राकृत-पदों का निर्माण होता है। १

कालान्तर में इन प्राकृत प्रयोगों को मूल प्रकृति मान कर इनसे भी अनेक अपभ्रंश या देशी पद बनते रहते हैं और इस प्रकार एक ही शब्द के अनेक रूप समय समय पर बनते और बिगड़ते रहते हैं। इन परिवर्तनों के अनेक कारण होते हैं—उच्चारण की सुगमता ही इनमें प्रधान कारण है। ६

भारतीय आर्य भाषा की वैदिक भाषा ही कालान्तर में संस्कृत में परिणत हुई और वही पुनः प्राकृत अपभ्रंश आदि रूपों को धारण करती हुई देशी भाषाओं के रूप में ही प्रचलित हुई है ऐसा ही विचार आर्य जाति की भाषा के सम्बन्ध में है। हजारों वर्षों के उपरान्त आधुनिक हिन्दी की बोलियों में प्रचलित शब्दों का मूल प्रकृति से चाहे प्रत्यक्ष सम्बन्ध न प्रतीत होता हो परन्तु ऐसे अनेक शब्द हैं जो आज भी इसी बात को स्पष्ट करते हैं कि बाह्य रूप के परिवर्तित हो जाने पर भी उनके अन्दर मूल प्रकृति का आभास अवश्य मिलता है। ८

वेदों में वैश्वानर अग्नि का अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। उपनिषद् काल में वैश्वानर विद्या आध्यात्म सम्बन्धी एक विशेष विद्या थी जिसका अध्ययन तथा अध्यापन भी होता था। उत्तर भारत में विशेषकर अवध प्रान्त में अग्नि में किन्हीं पदार्थों को हवि के रूप में डालने को 'बसन्दर करना' कहते हैं। बसन्दर का निश्चय ही वैश्वानर से कुछ अवश्य भारतीय सम्बन्ध प्रतीत होता है। न केवल ध्वनि या स्वर साम्य से अपितु भाव साम्य

है भी क्योंकि जिस भावना को वेदों का अदन्तर द्योतित करता है उसी को किसी न किसी रूप में 'अदन्तर' भी रखता ही है। आज अदन्तर देशी भाषा का शब्द हो गया है। इस प्रकार शब्द स्वतः घिसते मंजते रहते हैं। कभी-कभी आवश्यकतानुसार रूप का आमूल परिवर्तन हो जाता है और यदि मूल प्रकृति के उच्चारण में कुछ कठिनता होती है तो नया रूप ही मूल प्रकृति धारण कर लेती है। [४]

अस् धातु का जिस अर्थ में प्रयोग वैदिक भाषा में होता था आज उसी को हम हूँ था है के रूप में पाते हैं। युष्माकम् का तुम्हार होना इसी पूर्ण रूप परिवर्तन को प्रकट करता है। इसी प्रकार अनेक शब्द देशी भाषाओं में आज भी अपनी मूल प्रकृति के साथ विद्यमान हैं। [१८]

इन परिवर्तित रूपों के कारण ही नवीन बोलियां या भाषायें समय समय पर लोक में प्रचलित हो जाती हैं। कालान्तर में वैयाकरण उनके लिये एक नियम की एकरूपता की व्यवस्था करते हैं। वे किसी नवीन भाषा को निर्मित नहीं करते अपितु प्रचलित भाषा की स्वरूप व्यवस्था ही करते हैं। [२१]

इन्हीं प्राकृत भाषाओं में अत्यन्त उत्तम तथा उच्च कोटि का साहित्य भी निर्मित हुआ है। लोक में प्रचलित भाषा में निर्मित साहित्य नागरिकों तथा साहित्यिक व्यक्तियों के लिए भले ही अरुचिकर तथा स्वारस्य रहित प्रतीत हो पर लोक में वही गुणपूर्ण और रमणीय होता है। किसी भी देश की अथवा जाति की कुछ विशिष्ट रुचियां अथवा प्रवृत्तियां होती हैं उनके लिये किसी कारण विशेष का ज्ञात करना दुष्कर होता है। [१]

वर्तमान अंग्रेजी भाषा में त थ द, ध ङ ञ ट ड ण ध्वनियां नहीं हैं फिर भी प्रयोग तथा व्यवहार की दृष्टि से भाषा में किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं प्रतीत होता। वर्तमान हिन्दी में भी ष् ण् ञ् ङ् तथा स्वरों की कमी [illegible] लगी है पर भाषा के प्रसार में विशेष अड़चन नहीं। इसी प्रकार प्राकृत भाषाओं में सर्वत्र न् ध्वनि के स्थान पर ण् का होना [illegible] की ध्वनि का अभाव ट् को ड होना य का सर्वत्र ज् होना आदि ऐसी प्रवृत्तियां हैं जो उस समय की प्रकृति तथा रुचि का निर्देश करती हैं और इनके अभाव से भी भाषा का सौन्दर्य विकृत नहीं होता। प्राकृत भाषाओं में मनुष्य के [illegible] में [illegible] का 'बम्हण' [illegible] 'बम्हणं' [illegible] की 'बढ़ई' [illegible] को 'पिउ' [illegible] ही मधुर तथा [illegible] द्वारा था। [illegible] 'जम्मो' प्रचलित था। [illegible] [illegible] इस समय [illegible] के कारण

भले ही सुन्दर न प्रतीत हो पर प्राकृत भाषाओं में यही रूप मधुर तथा रुचि पूर्ण था।१३

इस प्रकार समय-समय पर प्रत्येक देश तथा काल में भाषाओं के रूप विधानों में इसी प्रकार के परिवर्तन होते रहे हैं। ये परिवर्तन लोक रुचि को ही प्रकट करते हैं क्योंकि यदि लोक इनको स्वीकार न करे तो इनका प्रचलन ही नहीं हो सकता।१४

इसी आधार पर किसी कवि ने

“अहो तत्प्राकृतं हरति प्रिया वक्त्रमिव सुन्दरम्।
सूक्तयो यत्र राजन्ते सुधा निष्यन्द निर्झरा”

अर्थात् स्नेहमयी प्रियतमा के चन्द्र रूपी मुख के समान यह प्राकृत भाषा आकर्षक तथा मनोहर है, जिस प्राकृत भाषा में अमृत के प्रवाह के निर्झरों के समान सुन्दर सूक्तियाँ प्रकाशित रहती हैं। इस प्रकार प्राकृत भाषाओं में भी ललित एवं मधुर साहित्य की न्यूनता नहीं है। अतः इन भाषाओं का पठन पाठन भी सहृदय भावुकों के लिये वाञ्छित है।१५

नाट्य शास्त्र के प्रणेता भरत मुनि के अनुसार

“नाना देश समुत्थं हि काव्यं भवति नाटके”

अर्थात् नाटकों में भिन्न-भिन्न देशों से निर्मित काव्य अवश्य होता है। यह भी असन्दिग्ध ही है कि जिस देश में जिस काव्य की रचना होती है वह उस देश की भाषा में ही होती है यदि वह रचना लोक साहित्य से सम्बन्धित है। साधारणतः कवि यदि वह बालक विद्वान् तथा बहुश्रुत नहीं है तो उसको अपने देश की भाषा में काव्य रचना करने में सरलता होती है और इस प्रकार नाटकों में नाना प्रकार की बोलियों तथा भाषाओं के व्यवहार से यह आवश्यक था कि साधारण व्यक्ति अन्य देशों की भाषाओं से भी अवगत अवश्य होते क्योंकि यदि केवल नाटक में काम करने वाले पात्र ही रट रटाकर इन का प्रयोग करते होते तो दर्शक वृन्द को नाटक के समझने में अत्यन्त असुविधा होती। अतः प्राकृत भाषाओं का ज्ञान साहित्यिक भाषा (संस्कृत) के साथ ही साथ चलता था।१६

वर्तमान समय में भी नगरों में बोली जाने वाली नागरी (हिन्दी), में यदि कोई नाटक लिखा जावे और उन नाटकों में यदि ग्रामीण क्षेत्र के व्यक्ति भी कुछ अभिनय करें तो यदि वे शुद्ध नागरी का उच्चारण करते हैं तो यह अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है अतः वे लोग ग्रामीण क्षेत्र में प्रचलित हिन्दी

की बोलियों का ही प्रयोग करते हैं और यह स्वाभाविक भी है। जैसे 'मुझे क्या करना है' इस वाक्य को बैसवाड़ी बोली में 'मोहिका का करैं का है' यही ग्रामीण व्यक्ति के मुख से अधिक उपयुक्त होता है और इस वाक्य को समझने वाले दर्शक वृन्द भी इस बोली से अवश्य अवगत होने चाहियें।[१८]

संस्कृत को मूल प्रकृति मानकर उनसे ही भिन्न-भिन्न पदों ध्वनियों तथा वर्णों का निर्माण होता है। यही भाषाओं का प्राकृत पाठ है ऐसा विचार भरत मुनि का है—

"एतदेव विपर्यस्त संस्कार गुण वर्जितम्।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नाना वस्थान्तरात्मकम्।"

अर्थात् मूल प्रकृति संस्कृत के पदों को विपर्यस्त करके आगे के वर्ण को पीछे, पीछे के वर्ण को आगे मध्य के वर्णों को आगे पीछे करके भिन्न भिन्न प्रकार से बोलना प्राकृत पाठ कहलाता है। जैसे लखनऊ, को नखलऊ, अमरूद को अरमूद रिक्शे को रिस्का आदि विपर्यस्त पाठ हैं। यह प्राकृत पाठ संस्कारों अर्थात् शुद्ध उच्चारण स्थान तथा प्रयत्नों द्वारा शुद्ध प्रयोग अथवा स्वरादि गुणों से रहित होता है। जैसे सैक्रिटेरियट का सकटरी या सक्टेरिएट वैस्टर्न का वाल्टम टिकट का टिक्कस आदि संस्कारों से रहित प्रयोग लोक में प्रचलित हो जाते हैं। भिन्न भिन्न अवस्थाओं में एक ही शब्द का भिन्न भिन्न प्रयोग प्रतिदिन हम किया ही करते हैं। दादा दद्दा बपुआ भाई भैय्या भैया, भावक प्रयोग एक दादा तथा भाई के लिये अपनी मानसिक अवस्थाओं के अनुरूप होते रहते हैं। भरत मुनि के अनुसार ये सब प्रयोग एक ही मूल प्रकृति से सम्बन्धित होने के कारण प्राकृत शब्दों की कोटि में आ सकते हैं।[१७]

आचार्य भर्तृहरि ने इन प्राकृत प्रयोगों के सम्बन्ध में विवेचना करते हुए लिखा है कि —

'दैवीवाक् व्यवकीर्णेयम अशक्तैरभि धातृभि'

अर्थात् दैवीवाक् (अमर भारती या संस्कृत भाषा) अशक्त कहने वालों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से विस्तार या फैलाव को प्राप्त होती है। जिसका से यही तात्पर्य है कि साधारण जन शिक्षा के अभाव और अभ्यास के न होने से शब्द की मूल प्रकृति से परिचित नहीं होते और न वे उनके शुद्ध प्रयोगों को ही जानते हैं अतः अपनी सुविधा के अनुसार उन शब्दों का व्यवहार करने लगते हैं और फिर क्रमशः जन साधारण में उन्हीं का प्रयोग अथवा व्यवहार होने लगता है। इस प्रकार केवल अशक्ति अथवा शुद्ध प्रयोग के असामर्थ्य के कारण शब्दों के विविध रूप प्राकृत शब्द से कहे जाते हैं।[१९]

प्राकृत भाषाएं मधुर तथा लोकप्रिय न होती तो भरत मुनि कदापि नाटकों में इनके प्रयोग की अनुमति न देते और न संस्कृत नाटकों में इनका व्यवहार ही पूर्ण रूप से किया जाता।२३

प्राकृत भाषाओं के सम्बन्ध में एक विचार धारा और भी है। इस विचार धारा के व्यक्ति प्राकृत भाषाओं को मनुष्य की प्रकृति या स्वभाव से सिद्ध भाषायें स्वीकार करते हैं और यह भी स्वीकार करते हैं कि प्रारम्भ में ये ही भाषाएं मनुष्य द्वारा बोली जाती थीं और उन्हीं का कालान्तर में वैयाकरणों ने संस्कार करके संस्कृत भाषा को जन्म दिया। प्रत्यक्ष रूप से वैदिक भाषा से इनका सम्बन्ध अनेक विद्वानों ने स्थापित किया है और प्राकृत भाषाओं के कतिपय पदों तथा रूपों के आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि प्राकृत भाषाए संस्कृत भाषा से पूर्व की हैं और इनका अधिक सम्बन्ध संस्कृत से न होकर वैदिक भाषा से है।२४

अम्हे, अस्मे इति, इं तन् त्वन आदि प्रत्ययों की तथा पदों की प्रवृत्ति दोनों में प्राप्त होती है। लिङ्ग वचन तथा विभक्तियों की प्रवृत्ति (व्यत्यय चतुर्थी को षष्ठी द्वितीया को प्रथमा आदि) दोनों भाषाओं (प्राकृत तथा वैदिक) में उपलब्ध होती है। इस प्रकार प्राकृत भाषाओं के द्वारा ही संस्कृत (संस्कार की गई) की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं पर ये दोनों ही विचार धारायें (प्राकृत से संस्कृत की उत्पत्ति और प्राकृत भाषाओं की वेद मूलकता) संस्कृत के वैयाकरणों को मान्य नहीं है और वैसे भी प्राकृत को स्वभाव से सिद्ध मानना तर्क रहित है क्योंकि यह स्वभाव कौन सा है और कैसा है जो मनुष्यों में स्वभाव से रहता है फिर उस स्वभाव से संबन्धी फ्रेन्च या जर्मन भाषायें क्यों नहीं बन जाती क्योंकि स्वभाव तो मनुष्य का सभी जगह होता है केवल प्राकृत भाषाओं में ही स्वभाव क्यों तथा कैसे सीमित हो गया?२५

यदि प्राकृत भाषाए ही पूर्व में थीं तो पाणिनि कात्यायन, तथा पतञ्जलि आदि वैयाकरणों ने इन पूर्ववर्ती भाषाओं पर कुछ भी प्रकाश क्यों नहीं डाला तथा इनका व्याकरण भी क्यों नहीं लिखा गया? पाणिनीय व्याकरण को अपूर्णता भी माननी पड़ेगी। साथ ही यहां वैदिक भाषाओं के निघण्टु निरुक्त तथा व्याकरण बने उन्हीं के साथ इन प्राकृत भाषाओं का निर्वचन आदि क्यों नहीं किया गया? यह भी प्रश्न है कि प्राकृत भाषाए तो भिन्न प्रान्तों में भिन्न भिन्न हैं पर संस्कृत भाषा प्रायः सर्वत्र एक ही प्रकार के नियमों से आबद्ध है फिर किस प्राकृत भाषा को लेकर इस संस्कार की गई भाषा का नाम संस्कृत रखा गया? पाणिनि ने जहां संस्कृत भाषा का व्याकरण लिखा है

वहां वैदिक भाषा के व्याकरण की भी उपेक्षा नहीं की है और वैदिक प्रयोगों की भिन्नता का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। ऐसी दशा में पाणिनि का प्राकृत भाषाओं से क्या वैमनस्य था ? क्यों नहीं इन भाषाओं का उल्लेख किया ? इन बातों से यह निष्कर्ष है कि प्राकृत भाषायें मनुष्य की प्रकृति या स्वभाव के आधार पर निर्मित नहीं हुई।[२५]

प्राकृत व्याकरण के आचार्यों वररुचि मार्कण्डेय आदि ने स्वयं स्पष्ट शब्दों में इन प्राकृत भाषाओं की मूल प्रकृति संस्कृत को स्वीकार किया है—

स्वयं वर-रुचि ने पैशाची और मागधी की मूल प्रकृति शौरसेनी को माना है और शौरसेनी की मूल प्रकृति संस्कृत है यह भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है फिर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से सभी प्राकृतों की प्रकृति संस्कृत ही है यही सिद्धान्त रूप से स्वीकृत किया गया है—

प्राकृत मञ्जरीकार ने भी स्वयं लिखा है कि—

"प्राकृत प्राकृत लोक गिरः परिणति गता"

अर्थात् प्राकृत रूप में विशद विवेचन करने के कारण वाणी या संस्कृत पूर्णता को प्राप्त हुई अर्थात् भाषाओं के विकास के क्रम में देवगिरा या संस्कृत ही विकसित होकर प्राकृत भाषाओं का स्वरूप धारण कर सकी। इस प्रकार इन प्राकृत भाषाओं की मूल प्रकृति संस्कृत ही स्वीकार की गई है। इसी सम्बन्ध में गीत गोविन्दकार जयदेव की यह उक्ति भी विचारणीय है कि —

संस्कृतात् प्राकृतम् इष्टं ततो ऽ पभ्रंश भाषणम्

अर्थात् मूल संस्कृत से प्राकृत अधिक अभिप्रेत है और उससे भी अधिक मनोनीत अपभ्रंश भाषाओं का प्रयोग होता है। प्राकृत भाषाओं के अद्यावधि जितने भी व्याकरण उपलब्ध होते हैं उनमें सब में संस्कृत को ही प्राकृत भाषाओं की प्रकृति माना गया है और संस्कृत के तिङन्त सुबन्त लिङ्ग वचन प्रत्यय धातु तथा सर्वनामों को ही आधार मान कर उनमें विचार दिखाया गया है। इस प्रकार 'प्राकृतादागतम् प्राकृतम्' अथवा प्रकृते भवम् प्राकृतं कोई भी विवेचन किया जावे उसका आशय यही है कि इन प्राकृत भाषाओं का विकास मूल संस्कृत भाषा से ही भिन्न भिन्न प्रान्तों में हुआ क्योंकि सभी प्रान्तों में संस्कृत समान रूप से तथा एक रूप से प्रचलित थी। लोक ने अपनी सुविधा के अनुसार उसका विकृत अथवा विकसित रूप निर्मित किया और कालान्तर में उसका कोई अन्य सामान्य नाम न होने से प्राकृत नाम ही उचित समझा गया और अपने प्रान्त का नाम निर्दिष्ट कर महाराष्ट्री शौरसेनी मागधी और पैशाची आदि नाम दिये गये।[२६]

प्राकृत भाषाओं के भेद

व्याकरण के जटिल नियमों तथा पदों के क्लिष्ट साधनों के कारण संस्कृत भाषा जनता के सम्पर्क से दूर होती गई। यदि कोई भूल से भी किसी अशुद्ध प्रयोग का व्यवहार कर देता था तो वह पण्डितों तथा विद्वानों के मध्य निन्दा एवं उपहास का पात्र होता था। यहाँ तक कि अपस्वर का भी विकृत पाठ संस्कृत के विद्वानों को क्षम्य नहीं था। कोई भी अन्य शूद्र जातीय संस्कृत में धर्म ग्रन्थों का अध्ययन नहीं कर सकता था। साधारण जनता को संस्कृत के पढ़ाने में भी ब्राह्मण वर्ग कुछ उत्सुक नहीं था। संस्कृत के व्याकरण के नियमों के प्रतिपादन करने वाले पाणिनि के सूत्रों में अर्ध मात्रा का लाघव भी वैयाकरण सहन नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में भाषा को ऐसे जटिल नियमों से बाँध दिया गया कि जिससे वह पूर्ण रूप से अस्पृश्य हो गई। कोई उसे छूने का भी दुस्साहस नहीं करता था न वह किसी को छूती थी और न उसे कोई छूता था। ऐसी दशा में वह पूर्ण रूप से विशुद्ध तो बनी रही पर क्रमशः उसका विस्तार तथा प्रचार अत्यन्त सीमित और परिमित हो गया उसका पठन पाठन कुछ थोड़े से अन्य जात ब्राह्मण वर्ग में ही अवच्छिन्न रह गया।[1]

जनता के लिये किसी भाषा का होना तो आवश्यक था। उसने ब्राह्मणों की चिन्ता नहीं की। उनकी वाणी संस्कृत को भी उन्होंने अछूता नहीं छोड़ा दूसरे शब्दों में उसे भी छूत कर दिया और जो भी प्रयोग उस प्राकृत जन का उनको अधिक सुगम तथा सुन्दर प्रतीत हुआ उसी का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। एक ही शब्द के एक ही प्रान्त में अनेक रूप प्रचलित हुए और वे सभी जनता में प्रयुक्त हुए। प्रयोग के समय किन्हीं विशेष नियमों का ध्यान नहीं रखा गया और केवल मुख-सुख ही प्रधान कारण रहा। इस प्रकार संस्कृत के स्थान पर जनता ने अपनी गढ़ी हुई भाषा का बिना किसी संकोच के प्रयोग किया कालान्तर में अपने अपने प्रान्तों में वे भाषाएं बड़ अच्छी प्रकार से प्रयुक्त होने लगीं और उनके द्वारा सामान्य भावावबोध भी होने लगा तब इन प्रयोगों के नियमों का निर्धारण हुआ और प्रयोगों अथवा पद रूपों को देखकर व्याकरण के ग्रन्थ रचे गये।[2]

प्रान्त के भेद से ही प्राय: इन प्राकृतों का वर्गीकरण किया गया। प्राकृत प्रकाश के कर्ता वररुचि ने जिनका दूसरा नाम कात्यायन भी था इन भाषाओं का प्रामाणिक व्याकरण लिखा। उन्होंने इन प्राकृत भाषाओं के चार भेद स्वीकार किये हैं—

१—प्राकृत
२—मागधी
३—शौरसेनी
४—पैशाची

अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ प्राकृत प्रकाश में पैशाची तथा मागधी की मूल प्रकृति शौरसेनी को स्वीकृत किया है और शौरसेनी की मूल प्रकृति संस्कृत मानी है। शौरसेनी प्राकृत के विशिष्ट कार्यों का उल्लेख उन्होंने किया है और शेष कार्य प्राकृत के अनुरूप होता है यह स्वीकार किया है। ३

पैशाची मागधी तथा शौर-सेनी की प्राकृत संज्ञा इसी लिये की गई है कि उनके सभी प्रयोग प्राकृत के अनुरूप होते हैं। महाराष्ट्र प्रान्त प्राकृत भाषाओं के काल में सर्व प्रमुख प्रतीत होता है। महाराष्ट्र की संज्ञा मराठों से सम्बन्धित है। अथवा किसी महान् राष्ट्र की द्योतिका है। इसमें विद्वानों में मत भेद है। हो सकता है कि मराठों के उत्कर्ष के कारण उनका राज्य उत्तर भारत में भी हो गया हो और उस राष्ट्र में जो भाषा सामान्य रूप से प्रचलित थी उसी को प्राकृत के नाम से कहा जाने लगा हो पर प्राकृत भाषाओं के विकास के समय मराठों के इस प्रकार के राज्य विस्तार का कोई इतिहास सम्मत प्रमाण नहीं है और न उस जाति का कोई अलग राष्ट्र ही स्वीकृत किया गया है। इस प्रकार प्राकृत वह भाषा थी जो शूरसेन मगध तथा पिशाच प्रान्त को छोड़ कर सामान्य रूप से सम्पूर्ण देश में बोली जाती थी उसी को प्राकृत के नाम से कहा गया है। हो सकता है कि वह प्रदेश मान की दृष्टि से अत्यन्त विस्तृत हो अतः उसे महाराष्ट्र की संज्ञा दे दी गई हो। वररुचि ने अपने प्राकृत प्रकाश में जिस भाषा के नियमों का निर्धारण किया है वह महाराष्ट्री ही है इसमें कोई सन्देह नहीं है क्योंकि शौरसेनी प्राकृत के नियमों का निर्धारण करते हुए विशेष नियमों का संकलन तो कर दिया है और शेष के लिये लिखा है कि 'शेषं महाराष्ट्रीवत्' अर्थात् शौरसेनी प्राकृत के शेष अनुक्त कार्य महाराष्ट्री के समान समझने चाहियें। इस प्रकार वर रुचि की प्राकृत महाराष्ट्री ही है इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकार वररुचि ने प्राकृतों का वर्गीकरण (१) प्राकृत (महाराष्ट्री) (२) पैशाची (३) मागधी (४) शौरसेनी इन चार में किया है। ४

हो सकता है कि महाराष्ट्र प्रान्त में बोली जाने वाली प्राकृत अपने रूप तथा माधुर्य में अत्यन्त श्रेष्ठ हो अतः उसी को मौलिक मानकर उसको प्राकृत की ही संज्ञा दे दी गई हो क्योंकि उसी में मूल प्रकृति संस्कृत की विशिष्टता भी और उसी में संस्कृत के रूपों का नियमबद्ध तथा सामान्य परिवर्तन हुआ हो। महाकवि दण्डी ने भी अपने काव्यादर्श में महाराष्ट्री के प्रति यही विचार व्यक्त किये हैं। ५

"महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः"

अर्थात् महाराष्ट्र प्रदेश में बोली जाने वाली भाषा उत्कृष्ट प्राकृत मानी जाती है। उस प्रान्त की प्राकृत अन्य प्रान्तों के प्राकृत से अत्यन्त उत्कृष्ट थी अतः वररुचि ने उसी को प्राकृत की संज्ञा दी है। ६

हेमचन्द्र जिन्होंने अपभ्रंश भाषाओं का विस्तृत विवेचन अपने 'काव्यानुशासन' नामक ग्रन्थ में किया है प्राकृत भाषाओं के ३ भेद और स्वीकृत किये हैं और वे (१) चूलिका पैशाचिका (२) आर्ष प्राकृत (३) अपभ्रंश हैं। इस प्रकार उनके मत से प्राकृतों के—

१—प्राकृत
२—पैशाची
३—चूलिका पैशाची
४—मागधी
५—आर्षी
६—शौरसेनी
७—अपभ्रंश

ये सात भेद हैं—यह आर्ष प्राकृत ही अर्ध मागधी है जो जैन साधुओं की सम्मानित भाषा है। ७

प्राकृत सर्वस्वकार श्री मार्कण्डेय ने अपने ग्रन्थ में भाषाओं के तथा उनके अवान्तर भेदों के सेंतालीस भेद स्वीकृत किये हैं। प्रथम भाषाओं के चार भेद हैं। ८

१—भाषा
२—विभाषा
३—अपभ्रंश
४—पैशाची

इनमें भाषा के पांच भेद हैं—

१—महाराष्ट्री

२—शौरसेनी
३—प्राच्या
४—अवन्ती
५—मागधी
अर्ध मागधी को मागधी के अन्दर ही परिगणित किया गया है।[९]
विभाषा के भी पाँच भेद हैं—
१—शाकारी
२—चाण्डाली
३—शाबरी
४—आभीरिकी
५—शाक्की (टाक्की)
अपभ्रंश के २७ भेद स्वीकृत किये हैं इनमें ब्राचड़ तथा द्राविड़ी नहीं है पर इनके साथ अपभ्रंश के—
१—नागर
२—ब्राचड़
३—उपनागर
ये तीन भेद और हैं। इस प्रकार अपभ्रंश के ३० भेद हैं।[१०]
पैशाची भाषा के तीन भेद हैं—
१—कैकेयी
२—शौरसेनी
३—पाञ्चाली

इस प्रकार भाषा के ५ विभाषा के ५ अपभ्रंश के ३० और पैशाची के ३ कुल मिलाकर ४३ भेद माने हैं।[११]

राम तर्क वागीश ने भी मार्कण्डेय के अनुसार ही भाषाओं के भेद स्वीकृत किये हैं

अन्य चाहे कितनी भी प्राकृत भाषाएं भिन्न-भिन्न आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित हों पर सभी ने (१) महाराष्ट्री (२) पैशाची (३) मागधी तथा (४) शौरसेनी इन चारों को अवश्य ही प्राकृत भाषाओं के रूप में स्वीकृत किया है।[१२]

रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में भाषाओं का वर्गीकरण (१) प्राकृत (२) संस्कृत तथा (३) अपभ्रंश इन तीन रूपों में किया है। प्राकृत तथा अपभ्रंश की पृथक् सत्ता स्वीकृत की है।[१३]

दण्डी ने काव्यादर्श में भाषाओं का एक 'मिश्र' भेद और स्वीकृत किया है अर्थात्—

"तदेतद्वाङ् मयं भूयसंस्कृतं प्राकृतं तथा। अपभ्रंश श्चमिश्रं चेत्याहु राप्ताश्चतु विधम्"

इन चार भाषाओं में ही रचित ग्रन्थ पाये जाते हैं।१४

पुराण वाग्भट्ट ने अपने वाग्भटालंकार में 'भूत भाषित' नाम से एक और भाषा स्वीकृत है अर्थात् संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश तथा भूत भाषित ये चार भाषायें स्वीकृत की हैं। विद्वानों ने भूत भाषित से उनका तात्पर्य पैशाची भाषा से ही लिया है।१५

इस प्रकार सभी आचार्यों ने संस्कृत तथा प्राकृत के साथ अपभ्रंश का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। प्रश्न यह है कि अपभ्रंश के संस्कृत तथा प्राकृत के समकक्ष होने पर भी वररुचि आदि जैसे विद्वानों ने इस भाषा के सम्बन्ध में क्यों विचार नहीं किया? क्या उनकी दृष्टि में अपभ्रंश हेय अथवा अशिक्षित लोगों की भाषा थी या उनके समय में इसका प्रचलन नहीं था? यह मत तो कुछ अधिक तर्क संगत नहीं है कि उनके समय में इस का प्रचार न हो क्योंकि उनके समय में भी प्राकृत तथा अपभ्रंश दोनों का ग्रन्थों में प्रयोग होने लगा था और साधारण जनता में दोनों ही प्रचलित भी थीं। हेय भी इस भाषा को वे कैसे समझते? क्योंकि प्राकृत तथा अपभ्रंश की विस्तार प्रक्रिया में पर्याप्त साम्य है और दोनों ने ही संस्कृत को प्रायः मूल प्रकृति माना गया है। इस प्रकार यही कहा जा सकता है कि वररुचि को प्राकृत से अपभ्रंश की अपेक्षा अधिक आकर्षण और प्रेम था उसके रूपों पर वे मुग्ध थे। साथ ही प्राकृत भाषाओं का साहित्य उनके समय में अपभ्रंश भाषाओं की अपेक्षा अधिक समुन्नत तथा व्यापक था। प्रधान रूप से साहित्य में प्राकृतों का ही प्रयोग अधिक होता था और हो सकता है कि अपभ्रंश का प्रचलन होने पर भी उसका स्वरूप निश्चित रूप से व्यवस्थित न हो सका हो? परन्तु वररुचि द्वारा विवेचन न होने पर भी उसकी महत्ता न्यून नहीं हो सकती।१६

हो सकता है कि वररुचि का अपभ्रंश विषय न हो और उन्होंने अपभ्रंश की ओर "बाहारयो बहुलम्" इस सूत्र मात्र से ही संकेत किया हो। भिन्न भिन्न देशों में ही अपभ्रंश भाषाओं का प्रचलन था और उनकी संख्या भी अधिक थी अतः सम्भव है कि वररुचि उन भाषाओं की ओर अधिक आकृष्ट न हुए हों और संक्षेप से ही उनका वर्णन कर दिया हो।१७

वृद्ध वाग्भट्ट ने अपभ्रंश भाषाओं के सम्बन्ध में—

करें। सौराष्ट्र अवन्ती तथा वेत्रवती के उत्तर में जो प्रदेश है उनमें चकार बहुला भाषा का प्रयोग करें। हिमालय, सिन्धु सौवीर (पुष्कर) आदि देशों में उकार बहुला भाषा का प्रयोग करना चाहिये। चर्मण्वती नदी के परवर्ती भाग में तथा जो अर्बुद देश के निवासी हैं वहां तकार बहुला भाषा का व्यवहार करना चाहिये।१९८

प्रतीत होता है कि भरत मुनि ने उन उन देश की भाषाओं की विशेष प्रवृत्तियों को देख कर ही इस प्रकार के नियमों की व्यवस्था की थी जिससे कि नाटकों को समझने में दर्शक वर्ग को सुविधा हो सके। इन सब भाषाओं के शब्दों के निर्माण के सम्बन्ध में वररुचि के प्राकृत प्रकाश से अथवा प्राकृत कल्पतरु एवं प्राकृत सर्वस्व से विशेष सहायता प्राप्त नहीं होती। केवल हेम चन्द्र का शब्दानुशासन ही भाषाओं के सम्बन्ध में विशेष रूप से प्रकाश डालता है पर फिर भी पूर्ण रूप से व्यापक नियमों तथा प्रवृत्तियों का दर्शन कराने वाली कोई भी पुस्तक उपलब्ध नहीं है। स्वयं भरत मुनि ने इन भाषाओं के प्रति अपने अज्ञान को प्रकट करते हुए लिखा है कि—

"एवं भाषा विधानं तु कर्तव्यं नाटकाश्रयम्। अत्र नोक्तं मया यत्तु लोकाद् ग्राह्यं बुधैस्तु तत्"

अर्थात् सब सम्भव नाटकों में भाषाओं का इसी प्रकार से विधान करना चाहिये और हो सकता है कि मुझसे इन भाषाओं के प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ बातें शेष रह गई हों उनको बुद्धिमान व्यक्तियों को लोक के द्वारा ग्रहण करना चाहिए और उनका प्रयोग नाटकों में करना चाहिये।१९९

इस प्रकार भिन्न भाषाओं के प्राकृतों एवं अपभ्रंश भाषाओं के प्रति भिन्न भिन्न विचार हैं।

प्राकृत भाषाओं का साहित्यिक संविधान

भाषाओं का रूप विधान सामाजिक विचार धाराओं तथा भावनाओं का द्योतक होता है। समाज के बिना भाषा का अस्तित्व ही नहीं रहता न उसका कोई मूल्य ही होता है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समाज समय-समय पर भिन्न-भिन्न रूपों का निर्माण करता है। समाज के नियमों का कारण नहीं होता उनमें तो उसकी विशेष रूप से रुचि और प्रवृत्ति ही होती है। लोक में वध को बहू कहा जाता है ध को ह का रूप दे दिया गया है पर साधु में ध अब भी उसी प्रकार स्थित है। उसका साहु रूप साधु के अर्थ का प्रत्यायक नहीं है। समाज ने यह पक्षपात दोनों के साथ क्यों किया? इसका कोई कारण नहीं है। सामाजिक रुचि चन्द्र को चन्दा कहती है और यह प्यारा तथा श्रुति मधुर भी है पर इन्द्र का रूप इन्दा न होकर इन्दर ही होता है इन्दर ही सुख-दुख को देता है। इसके पीछे समाज गत कोई नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। यही पद प्रयोग में आते आते साहित्यिक रूप ग्रहण कर लेते हैं। ब्रजभाषा में इनका प्रयोग मिलता है, अवधी में भी ये ही प्रयोग साहित्यिक हो गये हैं। बैसवाड़ी भाषा में बनरा, वर (दुलहा) के लिये प्रयुक्त होता है और विवाह के अवसर पर ग्रामीण क्षेत्रों में 'बनरा' गीत भी गाये जाते हैं जिन गीतों का सम्बन्ध विवाह के अवसर की प्रसन्नता सूचक वधुओं तथा वर के सौन्दर्य एवं उसकी वेषभूषा से होता है। बनरा की प्रकृति वरण करना या स्वीकार करना है वर और वरण एक ही प्रकृति मूलक हैं। अपभ्रंश काल में व की ब प्रवृत्ति तथा वर्ण व्यत्यय होने से बनरा का अर्थ वरण करने वाला ही होता है। (लोक गीतों में अत्यन्त भावपूर्ण तथा मधुर बनरा प्राप्त होते हैं)। इन गीतों के लोक भाषा में कहे जाने पर भी साहित्यिक मूल्य में किसी भी प्रकार की कमी नहीं होती प्रत्युत प्रचलित भाषा के प्रयोग से इनके माधुर्य में और भी वृद्धि हो जाती है। विद्युत् तथा पीत शब्द प्राकृत में अपने अन्त में ल का योग कर लेते हैं। ऐसी रूपी बिजली और पीला प्रचलित है। प्राकृत रूप विज्जुली और पीअलं था। प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में हिन्दी के प्रचलित रूपों का स्पष्ट आभास प्राप्त होता है। 'बसति' जिसका अर्थ

"अपभ्रंश तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्"

यही विचार प्रकट किया है कि अपभ्रंश उस भाषा को कहते हैं जो उन उन देशों में भाषाओं का शुद्ध प्रयोग होता है।१८

दण्डी ने भी अपने काव्यादर्श में यही विचार प्रकट किये हैं कि आभीर आदि देशी भाषायें जब नाटकों में प्रयुक्त की जाती हैं तब वे अपभ्रंश कहलाती हैं और—

"शौर सेनी च गौड़ी च लाटी चान्याच तादृशी।

याति प्राकृत मित्येवं व्यवहारेषु सन्निधिम्"

अर्थात् शौर सेनी गौड़ी लाटी तथा अन्य इसी प्रकार की भाषायें प्राकृत रूप में ही व्यवहार में कहलाई जाती हैं।१९

इस प्रकार देसी भाषाओं ने पूर्ण रूप से साहित्यिक रूप नहीं प्राप्त किया था हाँ प्राकृत भाषाओं का साहित्यिक रूप अवश्य हो गया था अतः अपभ्रंश भाषाओं का समुचित विवेचन प्रारम्भ से नहीं हो सका। यह कार्य हेमचन्द्र ने पूर्ण किया। प्रतीत होता है कि इनके समय में वे देसी भाषायें भी पूर्ण रूप से साहित्यिक स्वरूप प्राप्त कर चुकी थी और इन भाषाओं में भी स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ प्रणयन होने लगा था।२

दण्डी ने शब्दों के तीन रूप प्रतिपादित किये हैं (१) तत्सम (२) तद्भव (३) देसी। इससे प्रतीत होता है कि प्राकृत शब्द तद्भव की कोटि में आते हैं और देसी शब्द उनसे पृथक हैं। यद्यपि इनका प्रयोग नाटकों में भी प्रारम्भ हो गया था-क्योंकि स्वयं भरत मुनि ने—

"शौर सेनं समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके।

अथवा छन्दतः कार्या देश भाषा प्रयोक्तृभिः"।

अर्थात् शौर सेनी को लेकर नाटकों की भाषा होनी चाहिये अथवा देसी भाषाओं को बोलने वालों को अपनी इच्छानुसार ही भाषा का प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार दोनों प्रकार की भाषाओं का (प्राकृत अथवा अपभ्रंश) प्रयोग प्रतिपादित किया है। इस प्रकार से देसी शब्द भी तद्भव हो हैं।२१ हो सकता है प्राकृतों की मूल प्रकृति मान कर उनसे भी जो बिगड़े हुए रूप बने उनकी व्यवस्था संज्ञा दे दी गई हो और उनके अन्दर तद्भवता प्राकृतों के माध्यम से आई हो। तत्सम शब्दों का विवेचन प्राकृत अथवा अपभ्रंश में अनुपयुक्त ही था क्योंकि वे तो संस्कृत के समान ही थे।२२

नाट्याचार्य भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में भाषाओं तथा

विभाषाओं का विवेचन करते हुए कुछ विस्तार से इस सम्बन्ध में विवेचन किया है।[1] इनके विचार से भाषाओं के

१—मागधी
२—सूर सैनी
३—अवन्तिका
४—प्राच्या
५—अर्द्ध मागधी
६—बाह्लीका
७—दाक्षिणात्या

सात भेद हैं। पैशाची तथा महाराष्ट्री का इनमें उल्लेख नहीं है। इन भाषाओं को प्राकृत नाम भी नहीं दिया गया है। विभाषायें भी (१) शकर (२) आभीर (३) चण्डाल (४) शबर (५) द्रविड़ (६) उड़जा (७) हीना (वनेचरों की) ये ही स्वीकृत की हैं। इन विभाषाओं में प्रायः वे ही हैं जो इधर उधर घूमने फिरने वालों की बोलियां होती हैं।२४

नाटकों में जो राजा के अन्तःपुर में रहने वाले थे वे तथा स्वयं राजा लोग भी मागधी का प्रयोग करते थे। मण्ठी राज पुत्र तथा सेठ गण अर्द्ध मागधी बोलते थे (नाटकों में ही)। विदूषक आदि प्राच्य भाषा का धूर्त तथा छली व्यक्ति अवन्तिका का प्रयोग करते थे। नायिकायें तथा उनकी सखियां सूर सैन भाषा का योद्धागण नागरिकजन तथा जूआ खेलने वाले दाक्षिणात्या का व्यवहार करते थे। उदीच्य लोग बाह्लीक भाषा प्रयोग में लाते थे। खस जाति के व्यक्ति अपने देश की भाषा का ही व्यवहार करें। शकर तथा शक जाति के अपने स्वभाव के अनुरूप शकार (सकार) भाषा का और पुक्कस चाण्डाली भाषा का प्रयोग करें। कोयला बनाने वाले बहेलिये तथा लकड़ियों शबर भाषा का ही प्रयोग करें। पशु विक्रेता गायों घोड़ो हाथियों बकरी तथा भेड़ों का व्यापार करने वाले और घोषों में रहने वाले आभीर अथवा शाबरी का व्यवहार करें। द्रविड़ प्रदेश के निवासी द्राविड़ी को बोलें। सुरंग खोदने वाले शराब बेचने वाले रक्षक गण तथा नायक अपने दुःख के समय अथवा आत्म रक्षा के समय मागधी भाषा का प्रयोग करें।२५

शबर, किरात, आन्ध्र द्रविड़ आदि जातियों के लिये नाटकों के प्रयोग में भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिये। गंगा सागर के मध्य में जो देश है उनमें ए कार बहुला भाषा का प्रयोग उस भाषा को जानने वाले करें। विन्ध्याचल तथा समुद्र के बीच के निवासी नकार बहुला भाषा का प्रयोग

करें। सौराष्ट्र अवन्ती तथा वेत्रवती के उत्तर में जो प्रदेश है उनमें चकार बहुला भाषा का प्रयोग करें। हिमालय, सिन्धु सौवीर (गुर्जर) आदि देशों में उकार बहुला भाषा का प्रयोग करना चाहिये। चर्मण्वती नदी के परवर्ती भाग में तथा जो अर्बुद देश के निवासी हैं वहां तकार बहुला भाषा का व्यवहार करना चाहिये।२५

प्रतीत होता है कि भरत मुनि ने उस उस देश की भाषाओं की विशेष प्रवृत्तियों को देख कर ही इस प्रकार के नियमों की व्यवस्था की थी जिससे कि नाटकों को समझने में दर्शक वर्ग को सुविधा हो सके। इन सब भाषाओं के पदों के निर्माण के सम्बन्ध में वररुचि के प्राकृत प्रकाश से अथवा प्राकृत मञ्जरी एवं प्राकृत सर्वस्व से विशेष सहायता प्राप्त नहीं होती। केवल हेम चन्द्र का शब्दानुशासन ही भाषाओं के सम्बन्ध में विशेष रूप से प्रकाश डालता है पर फिर भी पूर्ण रूप से व्यापक नियमों तथा प्रवृत्तियों का वर्णन कराने वाली कोई भी पुस्तक उपलब्ध नहीं है। स्वयं भरत मुनि ने इन भाषाओं के प्रति अपनी अज्ञान को प्रकट करते हुए लिखा है कि—

"एवं भाषा विधानं तु कर्तव्यं नाटकाश्रयम्। अत्र नोक्तं मया यच्च लोकाद् ग्राह्यं बुधैस्तु तत्"

अर्थात् यथा सम्भव नाटकों में भाषाओं का इसी प्रकार से विधान करना चाहिये और हो सकता है कि मुझसे इन भाषाओं के प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ बातें शेष रह गई हों उनको बुद्धिमान व्यक्तियों को लोक के द्वारा ग्रहण करना चाहिये और उनका प्रयोग नाटकों में करना चाहिये।२६

इस प्रकार भिन्न भाषाओं के प्राकृतों एवं अपभ्रंश भाषाओं के प्रति भिन्न भिन्न विचार हैं।

प्राकृत भाषाओं का साहित्यिक संविधान

भाषाओं का रूप विधान सामाजिक विचार धाराओं तथा भावनाओं का द्योतक होता है। समाज के बिना भाषा का अस्तित्व ही नहीं रहता न उसका कोई मूल्य ही होता है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समाज समय-समय पर भिन्न भिन्न रूपों का निर्माण करता है। समाज के नियमों का कारण नहीं होता उनमें तो उसकी विशेष रूप से रुचि और प्रवृत्ति ही होती है। लोक में वध को बहू कहा जाता है ध को ह का रूप दे दिया गया है पर साधु में ध अब भी उसी प्रकार स्थित है। उसका साहु रूप साधु के अर्थ का प्रत्यायक नहीं है। समाज ने यह पक्षपात दोनों के साथ क्यों किया ? इसका कोई कारण नहीं है। सामाजिक रुचि चन्द्र को चन्दा कहती है और वह प्यारा तथा श्रुति मधुर भी है पर इन्द्र का रूप इन्दा न होकर इन्दर ही होता है इन्दर ही सुख-दुख को देता है। इसके पीछे समाज पर कोई नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। यही पद प्रयोग में आते आते साहित्यिक रूप ग्रहण कर लेते हैं। ब्रजभाषा में इनका प्रयोग मिलता है, अवधी में भी ये ही प्रयोग साहित्यक हो गये हैं। बैसवाड़ी भाषा में बनरा वर (दुलहा) के लिये प्रयुक्त होता है और विवाह के अवसर पर ग्रामीण स्त्रियों में 'बनरा' गीत भी गाये जाते हैं जिन गीतों का सम्बन्ध विवाह के अवसर की प्रसन्नता सूचक वस्तुओं तथा वर के सौन्दर्य एवं उसकी वेषभूषा से होता है। बनरा की प्रकृति वरण करना या स्वीकार करना है वर और वरण एक ही प्रकृति मूलक हैं। अपभ्रंश काल में व की न प्रवृत्ति तथा वर्ण व्यत्यय होने से बनरा का अर्थ वरण करने वाला ही होता है। (लोक गीतों में अत्यन्त भावपूर्ण तथा मधुर बनरा प्राप्त होते हैं)। इन गीतों के लोक भाषा में कहे जाने पर भी साहित्यिक मूल्य में किसी भी प्रकार की कमी नहीं होती प्रत्युत प्रचलित भाषा के प्रयोग से उनके माधुर्य में और भी वृद्धि हो जाती है। विद्युत् तथा पीत शब्द प्राकृत में अपने अन्त में ल का योग कर लेते हैं। देशी रूपी बिजली और पीला प्रचलित है। प्राकृत रूप विज्जुली और पीअलं था। प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में हिन्दी के प्रचलित रूपों का स्पष्ट आभास प्राप्त होता है। 'जगति' जिसका अर्थ

संस्कृत में होता है प्राकृत में 'होइ' ऐसा हो जाता है और यही रूप प्रचलित हिन्दी में 'होता' है। इस प्रकार हिन्दी की प्रायः समस्त पदावली तथा धातु प्रक्रिया प्राकृत या अपभ्रंश भाषाओं पर आधारित है।

इन प्राकृत भाषाओं ने विक्रम की द्वितीय शताब्दी पूर्व से लेकर नवीं या दसवीं शताब्दी तक संस्कृत साहित्य को प्रभावित किया है। संस्कृत का सम्पूर्ण नाट्य साहित्य प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं से परिपूर्ण है और प्रायः सम्पूर्ण नाटकों में भरत मुनि द्वारा नाट्य शास्त्र में प्रतिपादित नियमों का पालन किया गया है। शूद्रक कवि के मृच्छकटिक भास के स्वप्नवासवदत्तम् आदि नाटकों से लेकर मुरारी कवि के अनर्घराघव नाटक तक सभी में यथा साध्य नाट्य शास्त्र के नियमों का पालन किया गया है। यद्यपि ९वीं या १ वीं शताब्दी तक प्राकृत भाषाओं का प्रचलन समाप्त प्राय था और उनका स्थान अपभ्रंश एवं देशी भाषाओं ने ग्रहण कर लिया था तो भी नाटक के नियमों के पालन करने के कारण चाहे उन भाषाओं के जानने या समझने वाले दर्शक वृन्द में न हों तो भी उन प्राकृत भाषाओं का प्रयोग कवि गण परम्पराओं की प्रथा के अनुरूप करते ही थे। इस प्रकार नाटकों में क्रमशः कुछ अस्वाभाविकता अवश्य आ गई पर प्राकृत भाषाओं का संरक्षण किसी न किसी रूप में होता ही रहा।

कर्पूर मञ्जरी, सेतुबन्ध कुमार पाल चरित आदि ग्रन्थों का प्रणयन प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में ही हुआ है। 'गउड वहो' जो प्राकृत भाषाओं का प्राचीन ग्रन्थ है इससे प्राकृत भाषाओं का लालित्य तथा माधुर्य स्पष्ट होता है।

भाषाओं का साहित्यिक संविधान बोलियों में उतना स्पष्ट नहीं हो पाता जितना कि यहाँ की साहित्यिक भाषा में होता है। प्राकृत भाषायें पूर्ण रूप से सम्पूर्ण भारत में किसी भी समय एकमात्र साहित्यिक भाषा का स्थान नहीं ले सकी। पालि भाषा भी एक रूप में प्राकृत भाषा ही है परन्तु भगवान तथागत के वचन जिस भाषा में संगृहीत किये गये उसको प्राकृत भाषाओं से वैशिष्ट्य प्रदर्शित करने के लिये अलग नामकरण पालि भाषा से किया गया क्योंकि पालि का निर्वचन भी पा रक्षणे धातु से पाति रक्षति बुद्ध वचनानि या सा पालि अर्थात् बुद्ध के वचनों की जो रक्षा करती है उसे पालि कहते हैं।

यह पालि भाषा भी बौद्ध भारत में समादृत होने पर भी विशिष्ट वर्ग के मानने वालों की ही भाषा रही। इसी प्रकार अर्ध मागधी प्राकृत को जैन अनुयाय वालों ने अपनी भाषा स्वीकृत किया और अपने धर्म ग्रन्थों की

रचना इसी भाषा में की। विशेष धर्म की भाषा होने के कारण इन दोनों भाषाओं का साहित्य अन्य प्राकृत भाषाओं की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण और सुन्दर है।

अशोक ने अपने राज्य के आदेश भी उन उन देशों में प्रचलित भाषाओं में ही स्तूपों तथा शिला लेखों मे खुदवाये जिनसे जनता उनसे लाभ उठा सके। इससे प्रतीत होता है कि उनके समय तक भी कोई एक प्राकृत सर्व मान्य नहीं थी और भाषायें अपने अपने प्रान्तीय स्तर पर ही पनप रही थीं। संस्कृत के अनुरूप सर्व मान्य कोई भाषा राष्ट्रीय स्तर पर नहीं थी।

अशोकी प्राकृत भी यत्र तत्र उपलब्ध होती है पर उसका साहित्यिक रूप कोई भी उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार मुख्य रूप से प्राकृत भाषाओं का उपयोग संस्कृत के नाटकों में ही प्राप्त होता है। नाटकों में भी इन भाषाओं का प्रयोग उच्च वर्ग (आभिजात्य) के व्यक्ति नहीं करते थे। स्त्रियों में चाहे वे नायिका हों अथवा चेरी हों सभी के लिये प्राकृत भाषाओं का प्रयोग अनिवार्य था। इन भाषाओं को सामान्य रूप से संस्कृत की समकक्षता कभी भी नहीं प्राप्त हुई।

निस्सन्देह रूप से प्राकृत भाषायें सरल रूपों को लेकर ही अवतरित हुई। वृश्चिक (बिच्छू) शब्द के स्थान पर बिच्छुओं का प्रयोग उच्चारण की दृष्टि से अवश्य सुगम है। पद के अन्त में ओ की ध्वनि और तिङन्त के अन्त में इ की ध्वनि सरलता के साथ संगीतात्मकता को भी द्योतित करती है। बधिर: का 'बहिरो' रूप कुछ स्वाभाविक और सरल अवश्य है। इसी प्रकार विश्वास: का विस्सासो शृंगार का सिंगारो स्नेह का सनेही मयति का होइ, हृदयं ति का हरयइ, शृणोति का सुणइ आदि ऐसे रूप हैं जो निस्सन्देह साहित्य की सरलता तथा श्रुति मधुरता को द्योतित करते हैं।

इसके साथ ही प्राकृत भाषाओं में संस्कृत की रूपों की जटिलता का भी समाधान किया गया और तिङन्त (धातु) तथा सुबन्त(नाम)दोनों में प्रथक्-प्रथक एक रूपता आने से साहित्य की भाषा के माध्यम से साहित्य में जो दुरूहता आ गई थी वह समाप्त हुई। अकारान्त इकारान्त उकारान्त शब्दों के जो रूप भिन्न भिन्न चलते थे उनमें भी न्यूनता आई और यह प्रयत्न किया गया कि साहित्य के अन्दर व्याकरण की जटिलताओं तथा अत्यधिक धन्य रूपों को समाप्त कर दिया जाये जिससे आसानी से एक ही नियम से सभी रूपों की सिद्धि हो सके। पुरस्स अग्गिस्स वाउस्स आदि रूप इसके प्रमाण हैं। इसी प्रकार विभक्तियों में चतुर्थी का काम षष्ठी से लिया जाने लगा पंचमी

तथा तृतीया भी कहीं कहीं एक रूप की हुई। भूत तथा भविष्य के जो तीन भेद थे वे एक ही रह गये। इस प्रकार प्राकृत भाषाओं ने संस्कृत साहित्य को सुगम सरल तथा सुबोध बनाने में प्रशंसनीय कार्य किया।

प्राकृत भाषाओं तथा उसके उपरान्त अपभ्रंश भाषाओं के प्रचार से संस्कृत भाषा का प्रभाव लुप्त होने लगा। जनता में यह भी भावना नहीं रही कि वे मूल प्रकृति संस्कृत की सुरक्षा का ही प्रयत्न करते। किसी भी भाव को प्रकट करने के लिये जो भी प्रयोग हो सका उसी को जनता ने अपना लिया और वही लोक में प्रचलित भी हो गया। संस्कृत में भ्रम का अर्थ भ्रमण करना या घूमना होता है और प्राकृत काल में भमइ का भमड रूप बनता है। धीरे-धीरे इस भ्रमणार्थक (घूमने के) भाव के लिये (१) टिरिटिल्लइ, (२) ढुंढुल्लइ (३) चक्कम्मइ (४) ढण्ढल्लइ (५) भम्मडइ, (६) भमडइ, (७) भमाडइ (८) तलअण्टइ, (९) झण्टइ, (१०) झम्पइ (११) भुमइ (१२) गुमइ (१३) फुमइ (१४) फुसइ (१५) ढुमइ, (१६) ढुसइ, (१७) परीइ (१८) परइ ये १८ प्रयोग होने लगे। इन प्रयोगों में घुमइ, फुसइ, तलअण्टइ का संस्कृत की मूल प्रकृति 'भ्रम' से कोई भी अस्तित्व प्रतीत नहीं होता। अपभ्रंश काल में भाषाओं के प्राकृत रूप भी इतने अधिक परिवर्तित हो गये कि उनमें परस्पर भेद या साम्य की रूप रेखा भी विलुप्त हो गई और पूर्ण रूप से नवीन प्रयोग साहित्य में उपलब्ध होने लगे।

ये प्रयोग एक देशीय नहीं थे। हो सकता है कि एक ही प्रदेश में कुछ अन्तर से इनका प्रयोग भिन्न भिन्न देशी बोलियों में होने लगा हो और साहित्य का सृजन इन प्रयोगों में न सही पर लोक व्यवहार के लिये इनका उपयोग किया जाता रहा हो।

रूप-सिद्धि

नाम

प्राकृत भाषाओं में वररुचि के अनुसार महाराष्ट्री प्राकृत ही प्रमुख रूप से प्रचलित थी और उसी महाराष्ट्री का प्रभाव मागधी पैशाची तथा शौरसेनी प्राकृतों पर पड़ा है। इन भाषाओं में संस्कृत के शब्दों को ही आधार मानकर उनमें भिन्न-भिन्न जो परिवर्तन हुए हैं उनका विचार प्रायः सभी प्राकृत वैयाकरणों ने किया है। अपभ्रंश भाषाओं में भी इन प्राकृत भाषाओं का पूर्ण प्रभाव है। प्राकृत भाषाओं में वररुचि का प्राकृत प्रकाश सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है उस पर भामह ने संक्षिप्त वृत्ति भी लिखी है। प्राकृत प्रकाश में प्रधान रूप से प्रचलित शब्दों की सार्वनिका का प्रकार बतलाया गया है। हेमचन्द्र भी अपभ्रंश भाषाओं के प्रमुख वैयाकरण हैं उन्होंने अपने 'शब्दानुशासन' नामक ग्रन्थ में भी प्राकृत भाषाओं के सम्बन्ध में विशेष विवेचन किया है। इन्हीं दोनों मान्य आचार्यों के आधार पर प्राकृत भाषाओं का विवेचन करना अधिक प्रामाणिक और युक्ति-युक्त है।

संस्कृत के नामों मे सुप् लगकर सुबन्त पद बनते हैं। सुप् जिसके अन्त में हो उसे सुबन्त कहते हैं।

सु, औ जस्, अम् औट् शस् टा भ्याम् भिस् ङे भ्याम् भ्यस् ङसि भ्याम् भ्यस् ङस् ओस् आम् ङि ओस् सुप्।

इनमें प्रारम्भ में सु है और अन्त में प् अक्षर है प्रारम्भ के अक्षर सु और अन्त के अक्षर प् को लेकर 'सुप्' पद बनता है। सुप् जिसके अन्त में हो उसे सुप्+अन्त=सुबन्त कहते हैं।

शब्दों में जब तक कोई सुप् (सु, औ जस आदि) अन्त में संयुक्त नहीं होते तब तक उस शब्द को पद नहीं कहते और उनका प्रयोग भी नहीं होता। प्रत्येक नाम किसी न किसी कारक में प्रयुक्त किया जाता है और जब तक उसमें सुप् का कोई प्रत्यय नहीं लगता तब तक वह कारक के रूप में प्रयुक्त होने के योग्य भी नहीं होता और न उसको पद की संज्ञा ही प्राप्त होती है क्योंकि संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'सुप्तिङन्तं पदम्' अर्थात्

सुबन्त तथा तिङन्त को ही पद संज्ञा होती है और तभी इनकी विभक्ति संज्ञा भी होती है अर्थात् संस्कृत के नाम प्रथमा द्वितीया तृतीया चतुर्थी पंचमी, षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति में विभक्त हो जाते हैं। इन्हीं को कर्ता, कर्म करण सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध तथा अधिकरण के नाम से भी कहा जाता है। सम्बोधन एक और विभक्ति होती है और उसे सम्बोधन कारक के नाम से कहा जाता है।

संस्कृत व्याकरण का आधार लेकर इन शब्दों की रूप सिद्धि में प्राकृत काल में किस प्रकार परिवर्तन हुए और किन नियमों को प्राकृत में स्वीकृत किया गया तथा किनको छोड़ा गया इस पर प्राकृत वैयाकरणों ने पूर्ण विचार किया है और उस समय जनता में जो रूप प्राप्त होते थे उनके लिये अलग अलग नियमों को निश्चित किया है। इसके लिये एक उदाहरण प्रारम्भ में समझ लेना आवश्यक है। संस्कृत में वृक्ष का अर्थ पेड़ होता है इसका प्रथमा विभक्ति के एक वचन में वृक्षः यह रूप होता है द्विवचन में वृक्षौ तथा बहुवचन में वृक्षाः ये रूप बनते हैं। वृक्ष इसकी सिद्धि के लिये वृक्ष शब्द के आगे सु विभक्ति लाते हैं वृक्ष+सु इस अवस्था में 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इस सूत्र से सु में जो उ है उसकी इत् संज्ञा हो जाती है और 'तस्य लोपः' इस सूत्र से उ का लोप हो जाता है। इस प्रकार राम+स् ऐसा रह जाता है 'ससजुषो रुः' इस सूत्र से स् को 'रु' यह हो जाता है और फिर रु के उ का लोप हो जाता है राम+र् ऐसा रह जाता है फिर 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इस सूत्र से र् को विसर्ग यह हो जाता है और इस प्रकार प्रथमा विभक्ति के एक वचन में वृक्षः यह रूप बनता है। इसी प्रकार वृक्षौ तथा वृक्षाः आदि रूप भिन्न भिन्न नियमों से बनते हैं और कर्ता कारक का रूप वृक्षः वृक्षौ वृक्षाः बनता है।

पर प्राकृत भाषाओं में 'वृक्ष' का 'वच्छो' यह रूप प्राप्त होता है। केवल 'वच्छो' ही नहीं अपितु 'वच्छ' तथा 'वच्छो' ये रूप भी प्राप्त होते हैं।

प्राकृत भाषाओं में शब्द के आदि के ऋकार को 'अ' हो जाता है। पर वररुचि के अनुसार 'ऋतोऽत्' (१-२) इस सूत्र से 'वृक्ष' शब्द से वृ के ऋ को अ हो गया तो वक्ष+सु ऐसा रूप हुआ फिर उसके उपरान्त 'क्षस्यादिषु च्छ' (१ १) इस सूत्र से क्ष को छ ऐसा आदेश होता है इस प्रकार व+छ+सु यह रूप हुआ तब 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (१ १) इस सूत्र से छ को द्वित्व हो गया व+छ+छ+सु फिर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (१-५१) इस सूत्र से

प्रथम ख को च् यह हो गया तो व+च्+छ+सु ऐसा रूप बना फिर अत् ओत् सो। (५-१) इस सूत्र से सु को 'ओ' हो जाता है इस प्रकार वृक्ष का प्राकृत महाराष्ट्री में 'वच्छो' यह रूप प्रथमा विभक्ति के एक वचन में बनता है।

वृक्ष का वच्छो रूप उच्चारण की सुविधा से ही प्रयुक्त होता था वृ का उच्चारण फिर क्ष का उच्चारण कुछ कर्ण कटु तथा प्रयत्न साध्य था अतः प्राकृत में 'वच्छो' का प्रयोग वृक्ष के लिये होने लगा। किन्हीं प्राकृतों में वृक्ष के स्थान पर 'रुक्खो' भी बोला जाता था। उसकी सिद्धि के लिये भी– वृक्ष+सु इस में वृक्षे वेन रुर्वा' (१ १२) इस सूत्र से वृ के स्थान पर 'रु' होगया तो रु+क्ष+सु यह रूप प्राप्त हुआ तब 'ष्कस्कक्षां खः' (२ २९) इस सूत्र से क्ष को 'ख' यह होगया तब रु+ख+सु यह रूप हुआ तदनन्तर 'शेषादेशयोद्वित्व मनादौ' (३ ५) इस सूत्र से ख को द्वित्व होने पर रु+ख+ख+सु यह रूप बना तब 'वर्गेषु युज पूर्वः' (३ ५१) इस सूत्र से पूर्व ख के स्थान पर क हो गया और रु+क+ख+सु यह हुआ तब अत् ओत् सो (५ १) इस सूत्र से सु को ओ होने पर रुक्खो यह रूप सिद्ध हुआ।

प्राकृत भाषाओं मे ये परिवर्तन के नियम भाषाओं के प्रचलन के बाद ही निश्चित हुए जैसा कि अन्य भाषाओं में होता है—पर हम को प्रकृति वररुचि मार्कण्डेय आदि ने संस्कृत को ही माना है और संस्कृत को ही प्रकृति मान कर रूपों की सिद्धि की है। इस प्रकार जब तक प्राकृत रूपों का शास्त्रीय प्रयोग विधान हमें स्पष्ट नहीं होता तब तक किस प्रक्रिया से प्राकृत रूप बने यह भी स्पष्ट नहीं हो पाता और प्राकृत भाषाओं की वैज्ञानिकता का भी उपपादन नहीं हो पाता अतः आवश्यक है कि हम प्राकृत भाषाओं का रूप विधान अवगत करें और उनके नियम भी जानें।

प्राकृत प्रकाश कार वररुचि को प्रमाण मानकर कतिपय नामों की सिद्धि का विवेचन इस अध्याय में किया जायगा। प्राकृत भाषा के नियमों का पूरा रूप से सूत्रों के सहित उल्लेख भी प्राप्त होगा। क्योंकि बिना सूत्रोल्लेख के तथा उसके साथ के प्राकृत भाषाओं का व्याकरण अवगत करना कुछ कठिन ही होगा। शब्दों के प्रयोग अकारादि क्रम से ही सिद्ध किये गये हैं। संयुक्त अर्थयुक्त सर्व नाम लिंग तथा तिङन्त का विवेचन अलग-अलग अध्यायों में किया जायगा।

प्राकृत भाषाओं के साथ अपभ्रंश भाषाओं का भी समन्वय है। बहुत से नियम दोनों भाषाओं में समान भी प्राप्त होते हैं। कहीं-कहीं विशेषता भी हो जाती है पर प्राकृत भाषाओं की प्रकृति को अपभ्रंश भाषाओं से पूर्णरूप से विच्छिन्न भी नहीं किया जा सकता। इस दिशा में हेमचन्द्र का 'शब्दानुशासन' ही अधिक प्रामाणिक और सर्वांगीण है अतः संक्षेप से उन्हीं के आधार पर अपभ्रंश भाषाओं की भी रूप-सिद्धि अलग अध्यायों में वर्णित है।

प्राकृत-शब्द-सिद्धिः

१ असू तथा अंस्सू (अश्रु = आंसू)

अश्रु शब्द संस्कृत का है। प्राकृत में इसका रूप 'अंसु' बनता है और प्रचलित हिन्दी भाषा में इस का रूप आंसू है।

अश्रु शब्द में 'वक्रादिषु' (४ १५) वररुचि के इस सूत्र से प्रारम्भ के अकार के ऊपर बिन्दु ( ) यह रख दिया जाता है। इस प्रकार 'अंश्रु' यह रूप बना तत्पश्चात् 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) इस सूत्र से संयुक्त अक्षरों के ऊपर या नीचे स्थित ल व र का लोप हो जाता है अतः यहाँ भी अंश्रु के र् का लोप होने पर अंशु रूप हुआ। तदनन्तर 'शषोः सः (२ ४३) इस सूत्र से सर्वत्र ष् तथा श् को स हो जाता है अतः यहाँ पर श को स होने पर असु रूप बना तत्पश्चात् 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५ १८) अर्थात् इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों में सु भिस् तथा सुप् होने पर अन्त्य को दीर्घ हो जाता है। अतः इस सूत्र से 'अंस' के अंतिम उ को दीर्घ होने पर 'अंसू' रूप प्राकृत में प्राप्त होता है। कहीं-कहीं पर 'अंस्सू' भी प्राप्त होता है जहाँ 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) इस सूत्र से स् को द्वित्व होने से 'अंस्सू' रूप बनता है।

२ असो, आसो, अस्सो—

यह तीन रूप 'अश्व' इस शब्द के बनते हैं जिसका अर्थ घोड़ा होता है। 'अस्सो' में शषोः सः (२ ४३) इस सूत्र से श को स् हो जाता है तब 'अस्वः' रूप बनता है। फिर 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) इस सूत्र से व् का लोप हो जाता है और 'सर्वत्रविभुव' (३ ५८) इस सूत्र से स् को द्वित्व होता है पर विकल्प से होता है अर्थात् एक पक्ष में होता है और एक पक्ष में नहीं होता इस प्रकार अस्सः, असः ये दो रूप बनते हैं तब 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से सु या विसर्ग को ओ हो जाता है तब अस्सो और असो ये दो रूप बनते हैं। 'आसमृद्ध्यादिषु वा' (१ २) इस सूत्र से प्रारम्भ के अ को दीर्घ हो जाता है तब 'आसो' रूप बनता है और जब दीर्घ नहीं होता तब 'असो'

यही रूप बनता है। इस प्रकार एक ही शब्द के प्राकृत भाषाओं में 'अस्सो अश्शो और आसो' ये तीन रूप प्राप्त होते हैं। हेमचन्द्र के 'नादीर्घानुस्वारात्' इस सूत्र से द्वित्व नहीं होता।

३ अक्को—

इसकी संस्कृत की प्रकृति 'अर्क' है। अर्क का अर्थ सूर्य या आक का वृक्ष होता है। अर्कः में प्रथम 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) इस सूत्र से र का लोप हो जाता है 'अक' यह शेष रहता है 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) इस सूत्र से क का द्वित्व हो जाता है और अक्क यह रूप बना है तब 'अत् ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से ओ हो जाता है और 'अक्को' यह बनता है।

४ अग्गी—

इसकी संस्कृत की प्रकृति 'अग्नि' है जिसका अर्थ 'आग' है। 'अग्नि' के न का लोप 'अधोमनयाम्' (३-२) इस सूत्र से होने पर 'अगि' यह रूप रहा तब 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) इस सूत्र से ग को द्वित्व होने पर 'अग्गि' यह रूप हुआ तब 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५ १८) इस सूत्र से इ को दीर्घ होने से 'अग्गी' यह रूप सिद्ध होता है। 'इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों में सु' का लोप हो जाता है। अन्त्य हल' (४ ६)।

५ अग्गिणो—

द्वितीया विभक्ति के बहु वचन में 'अग्गिणो' यह रूप बनता है संस्कृत में 'अग्नीन्' यह होता है। अग्गि यह सिद्ध हो जाने पर (देखो अग्गी) 'शस्' जो द्वितीया के बहुवचन का प्रत्यय है उसके आने पर अग्गि शस् इस अवस्था में 'इदुतोः शसो णो' (५ १४) इस सूत्र से शस् के स्थान पर णो यह आदेश हो जाता है और 'अग्गिणो' यह रूप बनता है जिसका अर्थ 'आगों को' यह होता है।

६ अग्घो—

इसकी संस्कृत की प्रकृति 'अर्घ' है जिसका अर्थ 'मूल्य' होता है। अर्घ सु इस अवस्था में 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) इससे र् का लोप होने पर अघ+सु यह शेष रहा। 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५) इस सूत्र से घ को द्वित्व होकर अ + घ + घ + सु यह हुआ तब 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) इस सूत्र से प्रथम घ के स्थान पर ग् होने पर अ + ग् + घ् + सु यह शेष रहा। 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे सु के स्थान पर ओ होने पर अग्घो यह रूप सिद्ध हुआ।

७ अच्छी—

इसकी संस्कृत प्रकृति 'अक्षि' है जिसका अर्थ आँख होता है। अक्षि + सु इस अवस्था में 'क्षस्मादिषु छः' (१ १) इस सूत्र से क्षकार को छ हो जाता है तो अछि + सु यह रूप बना तब 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (१ ५) इस सूत्र से छ को द्वित्व होने पर अ + छ + छ+इ + सु यह रूप हुआ फिर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (१ ५१) इस सूत्र से प्रथम छ् को च होने पर अ + च् + छ+इ +सु यह हुआ। उपरान्त 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५ १८) इस सूत्र से इ को दीर्घ होने पर अच्छी + सु यह शेष रहा। 'अन्त्यस्य हलः' (४ ६) इस सूत्र से स का लोप होने पर तथा उ का लोप होने पर अच्छी यह रूप बना।

८ अच्चरिअं, अच्छेरं—

इसकी संस्कृत की मूल प्रकृति 'आश्चर्यम्' है जिसका अर्थ अचरज विस्मय तमगयुक्त आदि होता है। शौरसेनी प्राकृत में इसका रूप अच्चरिअं बनता है। 'आश्चर्यस्याच्चरिअं' (१२ ३) इस सूत्र से आश्चर्य इसके स्थान पर अच्चरिअं यह आदेश हो जाता है। महाराष्ट्री प्राकृत में इसका रूप अच्छेरं बनता है। प्रथम आश्चर्य के 'आ' को 'सन्ध्यावजामन्त्यलोप विशेषा बहुलम्' (४ १) इस सूत्र से 'अ' हो जाता है और अश्चर्य यह रह जाता है। अपभ्रंश भाषाओं में 'ह्रस्वः संयोगे' (८ १-८४ हेमचन्द्र 'शब्दानुशासन') इस सूत्र से दीर्घ 'आ' को छोटा 'अ' ह्रस्व होता है। इसके बाद 'श्चत्सप्सां छः' (१ ४) इस सूत्र से 'श्च' के स्थान पर 'छ' हो जाता है और 'अछर्य' यह शेष रहता है फिर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (१ ५) इस सूत्र से 'छ' को द्वित्व होकर अ + छ + छ + र्य यह स्वरूप होता है पुनः 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (१ ५१) से प्रथम छ को च् होकर अच्छर्य यह रूप होता है तब 'सूक्ष्म शौर्य सौन्दर्याश्चर्य पर्यन्तेषु रः' (१ १८) इस सूत्र से र्य के स्थान पर र होकर अच्छरं यह बनता है। 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) इस सूत्र से सु विभक्ति को बिन्दु (ं) यह हो जाता है और 'ए शय्यादिषु' (१ ५) इस सूत्र से छ के अ को 'ए' होकर अच्छेरं यह रूप सिद्ध होता है।

९ अमसो—

इसकी मूल प्रकृति 'अपयश' है। सर्व प्रथम 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) इस सूत्र से अपयश के 'य' का लोप होकर 'अपअश' यह रह जाता है। तब 'पो वः' (१ ३१) इस सूत्र से प के स्थान पर 'व' होकर अ+व+अ+श यह शेष रहता है फिर 'शषोः सः' (४३) से श के स्थान पर 'स' होकर

अ+ष+त यह बनता है। संस्कृत में अपयश शब्द नपुंसकलिंग है पर प्राकृत भाषा में 'सान्त प्रावृट् शरत्पुंसि' (४ १८) इस सूत्र से इसको पुल्लिंग होता है और 'अन्त्य हलः' (४ ६) इस सूत्र से अन्त के हल् का लोप हो जाता है और 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से सु को 'ओ' होकर 'अजसो' रूप बन जाता है।

१० अज्ज—

इसकी प्रकृति 'आर्य' है जिसका अर्थ श्रेष्ठ होता है। यह शब्द आमन्त्रण (पुकारने) में प्रयुक्त होता है तब इसके स्थान पर 'अज्ज आमन्त्रणे' (९ १७) इस सूत्र से आर्य के स्थान पर 'अज्ज' यह निपात हो जाता है।

११ अज्झाओ—

इसकी मूल प्रकृति अध्यायः है। सर्व प्रथम ध्य को 'ध्यह्योर्झः' (३ २८) इस सूत्र से ध्य के स्थान पर 'झ' हो जाता है तब अ+झा+य यह रूप बनता है तब शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ (३ ५) इस सूत्र से झ को द्वित्व होकर अ+झ+झा+य यह रूप होता है। पुनः 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) इस सूत्र से पूर्व झ को ज होकर अ+ज+झ+आ+यः रूप बना तब 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से ओ होकर अ ज् झा ओ रूप बनता है और अन्त्य हल' (४ ६) से अन्त्य यु का लोप होकर अज्झाओ सिद्ध हो जाता है।

१२ अट्ठी—

इसकी मूल प्रकृति 'अस्थि है' जिसका अर्थ हड्डी है। सर्व प्रथम स्थ के स्थान पर 'अस्थनि' (३-११) इस सूत्र से ठ होकर अ+ठ+इ यह रूप हुआ तत्पश्चात् 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५) इस सूत्र से ठ को द्वित्व होकर अ+ठ+ठ+इ यह हुआ। पुनः 'वर्गेषु युजः पूर्वः (३-५१) इस सूत्र से प्रथम ठ को ट् होकर अ+ट+ठ+इ यह रूप बना। तब 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः (५-१८) इस सूत्र से इ को दीर्घ होकर 'अट्ठी' यह रूप सिद्ध होता है।

१३ अप्पं—

इसकी प्रकृति 'आत्मन्' या 'आत्म' शब्द है है-संस्कृत में इसका अर्थ क्रम से 'अपना' और 'दुसरा' होता है। सर्व प्रथम 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) इस सूत्र से न को ण हो जाता है और फिर 'मो बिन्दुः' (४ १२) इस सूत्र से म् को बिन्दु ( ) होकर अपना के अर्थ में 'अप्पं' बनता है। आत्म शब्द से अप्पं रूप बनाने के सर्व प्रथम 'अधोमनयाम्' (३-२)

इस सूत्र से य का लोप होने पर मग्ग यह शेष रहा तत्पश्चात् 'नोण सर्वत्र' (२ ४२) इस सूत्र से न को ण हो गया फिर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५) इस सूत्र से ण को द्वित्व हो गया और 'मो बिन्दुः' (४-१२) इस सूत्र से बिन्दु ( ) होने पर मण्णं यह रूप सिद्ध होता है।

१४ अप्पा, अप्पाणो—

इन दोनों की प्रकृति 'आत्मन्' तथा आत्मानः' है—आत्मानः प्रथमा का बहुवचन है और इसका प्राकृत में अप्पाणो यह रूप बनता है परन्तु 'आत्मनोऽप्पाणोवा' (५-४५) इस सूत्र से विकल्प से 'अप्पाणो' आदेश होता है। अप्पा में 'आत्मन्' प्रकृति है प्रथम 'आत्मा बना मन् लोपविशेषा बहुलम् (४ १) इस सूत्र से 'आ को छोटा अ' हो जाता है और फिर आत्मनि पः (३-४२) इस सूत्र से त्म के स्थान पर प हो गया तो 'अ प न्' रूप बना तब 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५) इस सूत्र से प को द्वित्व होकर अ+प्+प्+न् रूप बना तदनन्तर 'इत्वोद्वित्वर्वे राजवदना देशे' (५-३१) इस सूत्र से अन् को 'आ' होकर 'अप्पा' रूप बनता है।

१५ अत्तो—

इसकी संस्कृत की प्रकृति 'आर्त' है जिसका अर्थ पीड़ित या दुःखित होता है। 'आर्त' के र का लोप 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) इस सूत्र से होकर आत यह रूप रहा तब 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) इस सूत्र से त को द्वित्व होकर और 'सन्ध्या व आ म व् लोप विशेषा बहुलम् (४ १) इस सूत्र से आ का ह्रस्व होकर 'अत्त रूप बना तब 'अत ओत् सोः (५ १) इससे अन्त में 'ओ' होकर 'अत्तो' रूप सिद्ध हुआ।

१६ अद्धा—

इसकी मूल प्रकृति 'अध्वा' है जिसका अर्थ मार्ग या रास्ता है। 'अध्वा' में 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) इस सूत्र से व् का लोप होकर अ+ध्+आ यह रूप शेष रहा—तब 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) इस सूत्र से ध् को द्वित्व होकर 'अ+ध्+ध्+आ' यह रूप बना तब 'वर्गेषु युजः पूर्वः (३ ५१) इस सूत्र से पूर्व ध् को द् होकर अद्धा' यह रूप बनता है।

१७ अप्पुस्सं—

इसकी मूल प्रकृति आत्मीयं' है जिसका अर्थ 'अपना' होता है। सर्व प्रथम आत्मनि पः (३ ४८) इस सूत्र से त्म के स्थान पर प हो गया तो

आ+प+म+अ यह रहा तब 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (१ ५) इस सूत्र से प को द्वित्व हो गया और 'सन्ध्यावच्चामज् लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) इससे आ को ह्रस्व होकर अ+प्+प+म+अ यह शेष रहा—तब 'अन्त्यहलः' (४ ६) से म् का लोप होगया फिर 'ह्रस्वोस्तापरे प्राप्तः दीर्घमेकेषुमगुम्फते' इस वार्तिक से भी (४ २५) सूत्र पर है 'उत्व' प्रत्यय हो गया और 'सोर्बिन्दु र्नपुंसके' (५ ३) इससे बिन्दु ( ) होने पर 'अप्पुणम्' यह सिद्ध होता है।

१८ अम्ब, अम्बं—

इन दोनों शब्दों की मूल प्रकृति 'आम्र' है जिसका अर्थ आम होता है। सर्व प्रथम 'सन्ध्यावच्चामज् लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) इस सूत्र से 'आ' को छोटा अ' हो जाता है और फिर 'ताम्रताम्रयोर्वः' (३ ५३) इस सूत्र से म के स्थान पर व हो गया। व को 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५) इस सूत्र से द्वित्व होकर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) इस सूत्र से बिन्दु ( ) होकर 'अम्बं' यह रूप सिद्ध होता है। हेमचन्द्र के अनुसार 'ताम्राम्रेम्बः' इस सूत्र से म्र को 'म्ब' हो जाता है और बड़े आ को ह्रस्व होकर (सन्ध्या व या म का लोप विशेषा बहुलम् (४ १ इस सूत्र से) 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) इस सूत्र से बिन्दु ( ) होकर 'अम्बं' यह बनता है।

१९ अरिहो—

इसकी मूल प्रकृति 'अर्हः' है जिसका अर्थ पूज्य या योग्य होता है। प्राकृत भाषाओं में कुछ संयुक्त शब्दों का विप्रकर्ष हो जाता है अर्थात् ये ध्वनियाँ संयुक्त न होकर अलग-अलग उच्चरित होती हैं—जैसे श्री का सिरी क्लिष्ट का किलिष्ट ह्री का हिरी आदि।

इस प्रकार प्रथम 'र' भी ह्री श्री कृत्स्न क्लेश म्लान स्वप्न स्पर्श हर्षार्हेषु (३-६२) इस सूत्र से 'इ' होकर अ+र्+इ+हः यह रूप बना तब 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से ओकार होकर 'अरिहो' यह रूप सिद्ध होता है।

२० अलाहि—

इसकी संस्कृत प्रकृति 'अलम्' है जिसका अर्थ निवारण या मना करना होता है। यह अव्यय है और 'निपात' शब्द है। प्राकृत भाषा में 'अलाहि निवारणे' (९ ११) इस सूत्र से अलम् के अर्थ में 'अलाहि' यह निपात हो जाता है। निपात शब्दों में इनकी सिद्धि का प्रकार निर्दिष्ट नहीं किया जाता।

२१ अलिअं—

इसकी प्रकृति 'अलीकम्' है जिसका अर्थ असत्य या झूठ होता है। सर्व प्रथम 'ईतः पानीयादिषु' (१ १८) इस सूत्र से ई को छोटा इ (ह्रस्व) हो गया और फिर 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२-२) इस सूत्र से क का लोप होने पर और 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु ( ) होने पर— अलिअं' यह रूप सिद्ध होता है।

२२ अल्हाओ—

इसकी प्रकृति 'आह्लाद' है जिसका अर्थ प्रसन्नता या आनन्द है। सर्व प्रथम 'ह्न ह्ल ह्ण नलमां स्थितिरूर्ध्वम्' (१ ८) इस सूत्र से ह में नीचे लगा हुआ ल ऊपर होकर आ+ल+हा+द ऐसा होता है—तब 'सन्ध्या वचा मज्लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) इस सूत्र से आ के स्थान पर अ हो गया और फिर 'अत ओत् सोः (५ १) इस सूत्र से 'ओ' हो कर अल्हाओ' यह रूप बनता है।

२३ अवरण्हो—

इसकी संस्कृत की प्रकृति 'अपराह्ण' है जिसका अर्थ दोपहर के बाद का समय होता है सन्ध्या से पूर्व तक का। सबसे पूर्व 'पोवः' (२ १५) इस सूत्र से 'प' को 'व' होने पर तथा 'सन्ध्यावचा मज्लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) इस सूत्र से 'रा' को 'र' होने पर अ+व+र+ह्ण यह बनता है। पश्चात् 'ह्न ह्ण ह्लेषु नलमां स्थितिरूर्ध्वम्' (३-८) इस सूत्र से ण की ऊर्ध्व स्थिति होने पर अ+व+र+ण+ह' यह रूप बनता है तब 'नो णः सर्वत्र' (२ ४२) इस सूत्र से न् को ण् होने पर तथा अत् ओत् सोः (५ १) इस सूत्र से ओ होने पर अवरण्हो यह रूप सिद्ध होता है।

२४ अवत्तो—

इसकी संस्कृत की प्रकृति 'आवर्तः' है जिसका अर्थ बार बार किसी वस्तु का आना' होता है। प्रथम 'सन्ध्यावचामज्लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) इस सूत्र से 'आ' को 'अ' हो जाता है फिर 'सर्वत्रलवराम्' (३ २) इस सूत्र से र का लोप होने पर 'अवतः' यह शेष रहता है। पुन 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से त को द्वित्व हुआ और अत ओत् सोः (५ १) इस सूत्र से ओकार होकर अवत्तो' यह रूप सिद्ध होता है। 'न धूर्तादिषु' (३ २४) इस सूत्र से त को ट नहीं होता नहीं तो 'र्तस्य ट' (३ २) से र्त को ट होना चाहिये था।

२५ असिवं असिव्व—

इन दोनों की मूल प्रकृति 'अशिवम्' है। प्रथम 'शषोः सः' (१ ४१) इस सूत्र से श को स होने पर तथा 'सेवादिषु च' (१ ५२) इस सूत्र के विकल्प से व को द्वित्व होने पर 'असिवं' तथा 'असिव्वं' ये दो रूप बनते हैं।

२६ अहिमु को—

इसकी मूल प्रकृति 'अभिमुक्तः' है जिसका अर्थ स्वतन्त्र या निर्मोष होता है। सर्वप्रथम 'ख घ थ धभां हः' (२ २७) इस सूत्र से भ के स्थान पर ह हुआ तब 'उपरि लोपः क ग ड त द प ष सास्' (१ १) इस सूत्र से त् का लोप हो गया और 'वक्रादिषु' (८ १५) इस सूत्र से बिन्दु ( ) होने पर तथा 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से ओ होने पर 'अहिमुक्को' रूप बनता है।

२७ आइदी—

इसकी मूल प्रकृति 'आकृतिः' है जिसका अर्थ आकार या शक्ल होता है। सर्व प्रथम 'क ग च ज त द प यवां प्रायो लोपः' (२ २) इस सूत्र से क् का लोप हो गया और 'इदृष्यादिषु' (१ २) इस सूत्र से ऋ के स्थान पर 'इ' होने पर 'ऋत्वादिषु तो दः' (२-७) इस सूत्र से त को द हो गया और 'सुभि-स्सुप्सु दीर्घः' (५ १८) इस सूत्र से अन्त की इ को दीर्घ होने पर 'आइदी' रूप सिद्ध हुआ।

२८ आउदी—

इसकी मूल प्रकृति 'आवृत्तिः' है जिसका अर्थ एक बार से अधिक वही बात का होना है। सर्व प्रथम 'क ग च ज त द प यवां प्रायोलोपः' (२ २) इस सूत्र से व् का लोप होने पर 'उद् ऋत्वादिषु' (१ २९) इस सूत्र से ऋ को 'उ' हो गया। तब 'ऋत्वादिषु तो दः' (२-७) इस सूत्र से त को द होने पर 'आउदि' यह रूप बना। तत्पश्चात् 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५ १८) इस सूत्र से अन्त की इ को दीर्घ होने पर 'आउदी' रूप सिद्ध होता है।

२९ आणत्ती—

इसकी मूल प्रकृति 'आज्ञप्तिः' है जिसका अर्थ आज्ञा या आदेश होता है। सर्व प्रथम 'उपरिलोपः क ग ड त द प ष सास्' (१ १) इस सूत्र से प् का लोप होने पर 'म्न ज्ञ पञ्चाशत् पञ्चदशेषु' (१ ४४) इस सूत्र से 'ज्ञ को ण' हो गया। तब 'शेषादेशस्यो द्वित्व मनादौ' (१ ५) इस सूत्र से त् को द्वित्व हो गया और 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५ १) इस सूत्र से दीर्घ होने पर 'आणत्ती' रूप सिद्ध होता है।

१० आणा—

इसकी मूल प्रकृति 'आज्ञा' है। 'म्न ज्ञ पञ्चाशत् पञ्चदशेषु णः' (१ ४४) इस सूत्र से ज्ञ के स्थान पर ण् होने पर 'आणा' यह रूप बनता है। इसमें 'शेषादेशयोः द्वित्वमनादौ' (३ ५) से द्वित्व प्राप्त था पर 'नादेशस्य' (३ ५५) इस सूत्र से द्वित्व का निषेध होने पर 'आणा' यह रूप ही बनता है।

११ आयरो—

इसकी मूल प्रकृति 'आदरः' है। इसमें 'अत ओत् सौ' (५ १) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'आयरो' यह रूप बनता है।

१२ आपेलो, आमेलो—

इन दोनों रूपों की मूल प्रकृति 'आपीडः' है जिसका अर्थ चोटी या सेहरा होता है। सर्व प्रथम 'एन्नीडापीडकीदृशेषु' (१ १९) इस सूत्र से इ के स्थान पर 'ए' यह हो जाता है और 'आपीडे मः' (२ १६) इस सूत्र से प के स्थान पर 'म' होता है। 'डस्य लः' (२ २१) इस सूत्र से ड के स्थान पर ल होकर तथा अत ओत् सो (५ १) इस सूत्र से ओ होकर आमेलो' यह शब्द सिद्ध होता है। किन्हीं आचार्यों के मत से प के स्थान पर म विकल्प से होता है उस अवस्था में 'आपेलो' यही रूप बनता है।

१३ आहिआई, अहिआई—

इसकी मूल प्रकृति 'अभिजाति' है जिस का अर्थ उच्च कुल या कुलीन जाति होता है। सर्व प्रथम 'ख घ थ धभां हः' (२ २७) इस सूत्र से भ को 'ह' होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायोलोपः' (२ २) इस सूत्र से ज का लोप हो गया और 'अ हि आ इ' यह रूप बना। तब 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५ १८) इस सूत्र से इ को दीर्घ होने पर और 'आ समृद्ध्यादिषु वा' (१ २) इस सूत्र से विकल्प से 'अ' को 'आ' होने पर अहिआई और आहिआई ये दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

१४ इंगालो—

इसकी मूल प्रकृति 'अङ्गारः' है। जिसका अर्थ 'अंगारा' होता है। सर्व प्रथम 'इदीषत् पक्व स्वप्न वेतस व्यजन मृदङ्गाङ्गारेषु' (१ ३) इस सूत्र से 'अ' को इ होने पर 'वक्रादिषु बिन्दुः' (४ १५) इस सूत्र से ङ को बिन्दु ( ) हुआ। फिर 'हरिद्रादीनां रो लः' (२ ३) इस सूत्र से र के स्थान पर ल होने पर और 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से ओ' होने पर 'इंगालो' यह प्रयोग बनता है।

३९ ईसालू—

इसकी मूल प्रकृति 'ईर्ष्यावत्' है जिसका अर्थ 'मतुप्' प्रत्यय होने से ईर्ष्या वाला होता है। इसमें मतुप् के स्थान पर 'आल्विल्लोल्लाल वन्तेन्ता मतुपः (४-२५) से आलु इल्ल, उल्ल आल, वन्त इन्त ये आदेश होते हैं आलु होने पर 'षषोः सः' (२ ४१) इस सूत्र से ष को स् होने पर तथा सर्वत्र लवराम् (१ १) इस सूत्र से र का लोप होने पर तथा 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५ १८) इससे दीर्घ होने पर 'ईसालू' यह रूप बनता है।

४० उक्केरो—

इसकी मूल प्रकृति 'उत्कर' है जिसका अर्थ धान्य का पुञ्ज या ढेर होता है। सर्वप्रथम 'उपरि लोपः कगडतदपषसाम् (१ १) इस सूत्र से त् का लोप होने पर शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (१ ५) इस सूत्र से क को द्वित्व होने पर 'ए शय्यादिषु' (१ ५) इस सूत्र से ए होने पर और 'अतओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से ओकार होने पर 'उक्केरो' यह रूप सिद्ध होता है।

४१ उच्छा—

इसकी मूल प्रकृति 'उक्षन्' है जिसका अर्थ बैल है। सर्वप्रथम 'अक्ष्यादिषु छः' (१ १) इससे क्ष को छ हो गया और अन्त्यहलः (४ ६) इससे न् का लोप होने पर शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३ ५) इस सूत्र से छ को द्वित्व होने पर और 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) इस सूत्र से प्रथम छ को च् होने पर तथा सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५ १) इससे दीर्घ होने पर 'उच्छा' यह शब्द सिद्ध होता है।

४२ उच्छू—

इसकी मूल प्रकृति 'इक्षु' है जिसका अर्थ ईख या गन्ना है। सर्वप्रथम 'इदितुवृश्चिकयोः (१ १५) इस सूत्र से इ के स्थान पर उ हो जाता है और अक्ष्यादिषु छः (१ १) इस सूत्र से च्छ होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५ १८) इस सूत्र से दीर्घ होने पर 'उच्छू' यह रूप सिद्ध होता है।

४३ उज्जुओ—

इसकी मूल प्रकृति 'ऋजुकः' है जिसका अर्थ कोमल वृत्ति वाला है। सर्व प्रथम 'उदृत्वादिषु' (१ २९) इस सूत्र से ऋ के स्थान पर 'उ' हो जाता है फिर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) इस सूत्र से क का लोप होने पर 'उजुअ' यह शेष रहता है। तब 'नीडादिषु च' (१ ५२) इस सूत्र से ज् को द्वित्व हो जाता है और अत् ओत् सोः (५ १) इस सूत्र से 'ओ' होने पर

'उज्जुओ' यह रूप बनता है। हेमचन्द्र के अनुसार [illegible] इस सूत्र से ऋ को रि होने पर रिज्जु से रिज्ज और उज्जू ये दो रूप बनते हैं। इनमें 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' इससे दीर्घ हो जाता है और अन्त 'ऋ' का लोप होकर ये दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

४४ उत्तरीअं उत्तरिज्जं—

इस शब्द की मूल प्रकृति 'उत्तरीयम्' है जिसका अर्थ दुपट्टा होता है। 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) इस सूत्र से य का लोप होने पर और 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) इस सूत्र से बिन्दु ( ) होने पर 'उत्तरीअं' यह रूप बनता है इस रूप में य के स्थान पर 'ज्ज' नहीं होता। पर जब 'उत्तरीयानीयतीयकृद्ये ज्जः' (२ १७) इस सूत्र से य के स्थान पर 'ज्ज' होने से और 'ह्रस्वः संयोगे' (हेमचन्द्र) इस सूत्र से री को ह्रस्व होने पर तथा 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) इस सूत्र से बिन्दु ( ) होने पर 'उत्तरिज्जं' यह रूप बनता है।

४५. उजू—

इसकी मूल प्रकृति 'ऋजु' है। सर्व प्रथम 'उदृत्वादिषु' (१-२९) इस सूत्र से 'ऋ' के स्थान पर 'उ' हो जाता है और 'ऋत्वादिषुतोदः' (२-७) इस सूत्र से त को द होने पर और 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५ १८) इस सूत्र से दीर्घ होने पर 'उजू' यह रूप बनता है।

४६ उप्पलं—

इसकी मूल प्रकृति 'उत्पलम्' है जिसका अर्थ कमल होता है। सर्व प्रथम 'उपरिलोपः कगडतदपषसाम्' (३ १) इस सूत्र से त् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से प को द्वित्व होने पर तथा 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) इस सूत्र से बिन्दु ( ) होने पर 'उप्पलं' यह रूप सिद्ध होता है।

४७ उम्बरं—

इसकी मूल प्रकृति 'उदुम्बरम्' है जिसका अर्थ गूलर या ताम्बा होता है। 'उदुम्बरे दोर्लोपः' (४ २) इस सूत्र से दु का लोप होने पर तथा 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) इस सूत्र से बिन्दु होने पर 'उम्बरं' यह रूप बनता है।

४८ उम्हा—

इसकी मूल प्रकृति 'ऊष्मन्' है जिसका अर्थ 'गर्मी' होता है। 'पक्ष्मश्मष्मस्मह्मां म्हः' (३ ३२) इस सूत्र से 'ष्म' के स्थान पर 'म्ह' आदेश होता है

और 'अन्त्यहलः' (४ ६) इससे न् का लोप होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५ १८) इस सूत्र से दीर्घ होने पर 'बम्हा' यह रूप सिद्ध होता है।

४९ उप्पाओ—

इसकी मूल प्रकृति 'उत्पात' है। सर्व प्रथम 'कगचजतदपयवां प्रायोलोपः' (२ २) इस सूत्र से दोनों त का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३ ५) से प को द्वित्व होकर तथा 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से ओकार होकर 'उप्पाओ' यह रूप बनता है।

५० ओक्खलं, उलूखलं—

इसकी मूल प्रकृति 'उलूखलम्' है। सर्व प्रथम 'उलूखलेण्वा वा' (१ २१) इस सूत्र से उलू के स्थान पर विकल्प से 'ओ' हो जाता है और 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) इस सूत्र से बिन्दु ( ) होने पर 'ओक्खलं' यह रूप बनता है और जब 'ओ' नहीं होता है तब 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) इस सूत्र से बिन्दु ( ) होकर 'उलूखलं' बनता है।

५१ उस्सवो—

इसकी मूल प्रकृति 'उत्सव' है। सबसे पूर्व 'उपरिलोपः कगडतदपषसाम्' (३ १) इस सूत्र से त् का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५) इस सूत्र से स् को द्वित्व होकर 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे ओकार होकर 'उस्सवो' यह रूप बनता है। इसमें 'उत्सप्लाव' (१ ४) इस सूत्र से उ को 'ऊ' होना चाहिये था पर 'नोत्सुकोत्सवयोः' (१ ४२) इस सूत्र से निषेध होने से नहीं होता तथा 'कगचजतदपयवां प्रायोलोपः' (२ २) इस सूत्र से व का लोप हो सकता था पर सूत्र में (प्रायो)- प्राय होने से कहीं पर होता है और कहीं पर नहीं होता।

५२ उस्सुओ—

इसकी मूल प्रकृति 'उत्सुक' है। सर्व प्रथम 'कगचजतदपयवां प्रायोलोपः' (२ २) इस सूत्र से क का लोप हुआ और 'उपरिलोपः कगडतदपषसाम्' (३ १) इस सूत्र से त का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) इस सूत्र से स् को द्वित्व होने पर तथा 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'उस्सुओ' यह रूप बनता है।

५३ एगारह—

यह शब्द संस्कृत के 'एकादश' से बना है जिसका अर्थ ११ होता है। सर्व प्रथम 'संख्यायाश्च' (२ १४) इस सूत्र से द के स्थान पर 'र' हुआ और

'कग चज तद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) इस सूत्र से द् का लोप होने पर 'खघथधभां हः' (२ २७) इस सूत्र से ध को ह हो गया और इस प्रकार 'पमाएइ' यह रूप बना।

५४ एरावणो—

इसकी मूल प्रकृति 'ऐरावत' है जिसका अर्थ इन्द्र का हाथी है (अर्थात् इन्द्र के हाथी का नाम ऐरावत है)। सर्व प्रथम 'ऐत एत्' (१ ३५) इस सूत्र से 'ऐ' के स्थान पर 'ए' हुआ और फिर 'ऐरावतेव' (२ ११) इस सूत्र से त के स्थान पर ण होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से ओ, होने पर 'एरावणो' यह रूप बनता है।

५५. ओहासो अवहासो—

इन रूपों की मूल प्रकृति 'अवहास' है जिसका अर्थ हँसी या उपहास होता है। 'ओहासो' में 'ओदवापयोः' (४ २१) इस सूत्र से अव के स्थान पर ओ हो जाता है और 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से ओ होने पर 'ओहासो' यह रूप बनता है। जिस पक्ष में 'अव' को 'ओ' नहीं होता वहां 'अवहासो' यही रूप बनता है।

५६ कइअवो—

इसका प्राकृत रूप संस्कृत में 'कैतव' होता है जिसका अर्थ छल या कपट है। सर्वप्रथम 'दैत्यादिष्वइ' (१ ३६) इस सूत्र से कै के ऐ को 'अइ' यह हो जाता है और 'कग चज तद पयवां प्रायो लोपः' (२ २) इस सूत्र से त् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'कइअवो' यह रूप सिद्ध होता है।

५७ कई—

इसकी मूल प्रकृति 'कपि' है जिसका अर्थ बन्दर है। इसमें 'कग चज तद पयवां प्रायो लोपः' (२ २) इस सूत्र से प का लोप हो गया और 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५ १८) इस सूत्र से दीर्घ होने पर 'कई' यह प्रयोग सिद्ध होता है।

५८ कउरवो—

इसकी मूल प्रकृति 'कौरव' है जिसका अर्थ कुरु के पुत्र होता है (दुर्योधन आदि कौरव थे)। सर्व प्रथम 'पौरादिष्वउ' (१ ४२) इस सूत्र से 'औ' के स्थान पर 'अउ' हो जाता है। तब 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'कउरवो' यह प्रयोग सिद्ध होता है।

६३ कण्णिआरो, कणिआरो—

इसकी मूल प्रकृति 'कर्णिकार' है जिसका अर्थ कनेर होता है। सर्व प्रथम 'सेवादिषु वा' (१ ५८) इस सूत्र से ण् को द्वित्व विकल्प से होकर 'सर्वत्र लवराम्' (१ ३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर तथा 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ १) इस सूत्र से क का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से ओ होने पर 'कण्णिआरो' यह रूप बनता है। जिस पक्ष में द्वित्व नहीं होता वहाँ सब कार्य पूर्ववत् होता है और 'कणिआरो' यह रूप बनता है।

६४ कण्णउरं कण्णऊरं—

इन दोनों की मूल प्रकृति 'कर्णपूरम्' है जिसका अर्थ कान का आभूषण है। इसमें 'सर्वत्र लवराम्' (१ १) इस सूत्र से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (१ ५) इस सूत्र से ण् को द्वित्व होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२) इस सूत्र से प् का लोप होने पर 'नपुंसके सोर्बिन्दुः' (५ ३) इससे बिन्दु ( ) होने पर 'कण्णऊरं' यह रूप बनता है। पर 'सन्धावचामज्लोपविशेषा बहुलम्' (४ १) इस सूत्र से विकल्प से अच् विधि होने पर—ऊ को छोटा 'उ' होने पर 'कण्णउरं' यह रूप बनता है। अन्य सर्व कार्य 'कण्णऊरं' के समान है।

६५ कणेरू—

इसकी मूल प्रकृति 'करेणु' है जिसका अर्थ 'हथिनी' होता है। सर्व प्रथम 'करेण्वां रणोः स्थितिपरिवृत्तिः' (४ १८) इस सूत्र से र तथा ण के स्थान में परिवर्तन हो जाता है अर्थात् ण पहले हो जाता है और र बाद में और 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५ १८) इस सूत्र से दीर्घ होने पर 'कणेरू' यह रूप बनता है।

६६ कण्हो कसणो—

इन दोनों शब्दों की मूल प्रकृति 'कृष्ण' है। सर्व प्रथम 'ऋतोऽत्' (१ २७) इस सूत्र से 'ऋ' को 'अ' हो गया और फिर 'कृष्णे वा' (१ ६१) इस सूत्र से संयुक्त वर्ण 'ष्ण' को विप्रकर्ष हो गया अर्थात् ष ण अलग-अलग हो गये 'षषोः सः' (२ ४३) इस सूत्र से 'ष' को 'स' होने पर तथा 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे 'ओ' होने पर 'कसणो' यह रूप बनता है। जिस स्थान पर ष्ण का वर्ण विप्रकर्ष नहीं होता क्योंकि 'कृष्णे वा' (१ ६१) से विकल्प से होता है वहाँ 'ष्ण स्न ह्न ह्ण क्ष्णां ण्हः' (१ ३३) इस सूत्र से 'ष्ण' को 'ण्ह'

होने पर तथा 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे ओ होने पर 'कम्हो' यह रूप बनता है।

६७ कन्नोट्ठो—

इस शब्द की मूल प्रकृति 'उत्पलम्' है जिसका अर्थ कमल होता है। प्राकृत भाषाओं के समय में देशी भाषाओं के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी जन साधारण में होने लगा था। यद्यपि प्राकृत वैयाकरण वररुचि ने विस्तार से इन देशी भाषाओं के सम्बन्ध में अपने 'प्राकृत प्रकाश' में विचार नहीं किया है परन्तु उन्होंने 'दाक्षादयो बहुलम्' (४ ३३) इस सूत्र में दाक्षादि शब्दों का प्रयोग प्राकृत भाषाओं में होना स्वीकृत किया है। दाक्षादि में आदि शब्द से उनका अभिप्राय उन्हीं देशी शब्दों से है जो प्राकृत भाषाओं के समय में विशेष रूप से प्रयुक्त होने लगे थे। इसी आधार पर 'उत्पलम्' के स्थान पर 'कन्नोट्ठं' शब्द का प्रयोग भी होने लगा था। इस प्रकार की संकीर्ण विधियां प्रयुक्त होती थीं।

६८ कमंधो—

इसकी मूल प्रकृति 'कबन्धः' है जिसका अर्थ शरीर के सिर के नीचे का भाग जिसे 'धड़' कहते हैं होता है। प्राकृत में 'कबन्धे बोमः' (२ १९) इस सूत्र से 'ब' को 'म' हो जाता है और 'यमितवृषयन्ति' (४ १७) इस सूत्र से बिन्दु होकर 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'कमंधो' यह रूप सिद्ध होता है।

६९ कम्मो—

इसकी मूल प्रकृति 'कर्म' है जिसका अर्थ काम होता है। सर्व प्रथम 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) इस सूत्र से द्वित्व होने पर तथा 'नान्त प्रावृट्शरदः पुंसि' (४ १८) इस सूत्र से पुल्लिंग होने से 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे 'ओ' हो जाने पर 'कम्मो' यह रूप बनता है।

७० कंसो, कम्सो—

इसकी प्रकृति 'कंसः' है। 'नमोर्हलि' (४ १४) इस सूत्र से बिन्दु हो जाता है और 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे 'ओ' होने पर 'कंसो' यह रूप बनता है—इसी सूत्र से म् भी होता है तब इसका रूप 'कम्सो' बनता है।

७१ कम्मे—

इसकी मूल प्रकृति 'कार्मम्' है। सर्व प्रथम 'ह्रस्वः संयोगे' (हेमचन्द्र) इस सूत्र से आ को अ होने पर 'र्मयोम्म' (११-७) इस सूत्र से 'र्म' के

७७ किलिट्ठं—

इसकी मूल प्रकृति 'क्लिष्टम्' है जिसका अर्थ कठिन होता है। सर्व प्रथम 'क्लिष्टश्लिष्टरत्नक्रिया शार्ङ्गेषु तत् स्वरवत् पूर्वस्य' (१ १) इस सूत्र से युक्त का विप्रकर्ष हो जाता है और 'लि' कलि होकर पूर्व वर्ण की तत्स्वरता होती है अर्थात् पूर्वस्वर के साथ पूर्व वर्ण युक्त हो जाता है इस प्रकार कि+लि+ष्ट' बनता है। तब ष्टस्यठ' (१ १) इस सूत्र से ष्ट के स्थान पर ठ हो जाता है और 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (२ ५) इस सूत्र से ठ् को द्वित्व होकर 'द्वितीयतुर्ययोरुपरिपूर्वः' (१ ९१) इस सूत्र से ठ् को ट होकर 'मोऽनुस्वारः' (५ १) इस सूत्र से बिन्दु (—) होकर 'किलिट्ठं' यह रूप बनता है।

७८ किलेसो—

इसकी मूल प्रकृति 'क्लेशः' है। सर्व प्रथम 'ह्रश्रीह्रीकृत्स्नक्रियादिष्टयास्वित्' (१ १२) इस सूत्र से संयुक्त वर्ण का विप्रकर्ष हो जाता है और पूर्व को इकार तथा तत्स्वरता होती है। 'शषोःसः' (१ ४३) इस सूत्र से श को स होने पर तथा 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'किलेसो' यह रूप सिद्ध होता है।

७९ किवा—

इसकी मूल प्रकृति कृपा' है। सर्वप्रथम 'इदृष्यादिषु' (१ १८) इस सूत्र से ऋ के स्थान पर इ होकर 'कि' हुआ तब 'पोवः' (२ १५) इस सूत्र से प को व होकर 'किवा' यह रूप सिद्ध होता है।

८० किसी—

इसकी मूल प्रकृति 'कृषिः' है जिसका अर्थ खेती है। सबसे पूर्व 'शषोःसः' (२ ४३) इस सूत्र से ष् को स हुआ तब 'इदृष्यादिषु' (१ २८) इस सूत्र से ऋ को 'इ' होकर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५ १८) इस सूत्र से दीर्घ होकर 'किसी' यह रूप सिद्ध हुआ।

८१ कुमसम, कुवसमं—

इन दोनों की मूल प्रकृति 'कुसुमम्' है जिसका अर्थ कुसुम है। सर्वप्रथम 'यावदादिषु वस्य' (४ ५) इस सूत्र से व् का लोप होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) इस सूत्र से प का लोप होने पर 'सावित्युसु नके' (५ १) इस सूत्र से बिन्दु ( ) होने पर 'कुमसमं' यह शब्द सिद्ध होता है। पर 'यावदादिषु वस्य' (४ ५) इस सूत्र से व का लोप विकल्प से होता

है अत जहाँ ग् का लोप नहीं होता वहाँ 'कुमलओ' यह रूप सिद्ध हो जाता है।

८२ कुक्खेमओ—

इसकी मूल प्रकृति 'कौक्षेयकः' है जिसका अर्थ तलवार या खड्ग होता है। सर्वप्रथम 'उत्सौन्दर्यादिषु' (१ ४४) इस सूत्र से 'औ' को उ होता है। तब 'ष्कस्कक्षां खः' (३ २९) इस सूत्र से क्ष के स्थान पर ख् होता है और फिर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५०) इस सूत्र से ख् को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) इस सूत्र से पूर्व ख् को क होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) इस सूत्र से य् तथा क का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से ओ होने पर 'कुक्खेअओ' यह रूप बनता है।

८३ कुच्छी—

इसकी मूल प्रकृति 'कुक्षि' है जिसका अर्थ 'कोख' या बगल होता है। सर्वप्रथम 'अक्ष्यादिषु छः' (३ ३०) इस सूत्र से 'क्ष' को 'छ' होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५०) इस सूत्र से छ को द्वित्व हुआ और 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) इस सूत्र से छ् को च् होने पर तथा 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५ १२) इस सूत्र से दीर्घ होने पर 'कुच्छी' यह रूप सिद्ध होता है।

८४ कुम्भारो, कुम्भआरो—

इन दोनों की मूल प्रकृति 'कुम्भकारः' है जिसका अर्थ 'कुम्हार' या मिट्टी के बर्तन बनाने वाला है। सर्व प्रथम 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) इस सूत्र से 'कार' के 'क' का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे ओ होने पर 'कुम्भ आरो' यह रूप बनता है। परन्तु 'सन्धावचामज्लोपविशेषा बहुलम्' (४ १) इस सूत्र से भ के आगे 'अ' का लोप होने पर और 'भ' के 'आ' से मिल जाने पर 'कुम्भारो' यह रूप सिद्ध होता है।

८५ केढवो—

इसकी मूल प्रकृति 'कैटभः' है। कैटभ नाम का एक राक्षस था जिसको श्रीकृष्ण ने मारा था। सर्व प्रथम 'सटाशकटकैटभेषु ढः' (२ २१) इस सूत्र से ट के स्थान पर ढ हुआ और 'ऐत एत्' (१ ३५) इस सूत्र से कै के ऐ को 'ए' हो गया। तब 'कैटभे वः' (२ २९) इस सूत्र से 'भ' को 'व' होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से ओ होने पर 'केढवो' सिद्ध होता है।

८६ केलासो —

इसकी मूल प्रकृति 'कैलास' है। प्रथम 'ऐत एत्' (१ ३५) इस सूत्र से

'ऐ' को 'ए' हो गया और 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से 'ओ' होने पर केवाडो यह रूप बनता है।

८७ केवट्टओ—

इसकी मूल प्रकृति 'कैवर्तक' है जिसका अर्थ धीवर या मछली मारने वाला है। सर्व प्रथम 'ऐत एत्' (१ ३५) इस सूत्र से ऐ को ए हो गया और फिर 'र्तस्यटः' (३ २२) इस सूत्र से त को ट हुआ। 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) इस सूत्र से ट् को द्वित्व होने पर क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः (२ २) इससे क का लोप होने पर 'अत ओत् सोः (५ १) इससे ओ' होने पर 'केवट्टओ' यह रूप बनता है।

८८ कोमुई—

इसकी मूल प्रकृति 'कौमुदी' है जिसका अर्थ चांदनी है। सर्वप्रथम 'औत ओत्' (१ ४१) इस सूत्र से औ को ओ हो जाता है और 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः (२ २) इस सूत्र से द् का लोप होने पर 'कोमुई' यह रूप बनता है।

८९ कोसंबी—

इसका मूल रूप 'कौशाम्बी' है। यह एक नगर का नाम है। सर्व प्रथम औत एत् (१ ४१) इस सूत्र से औ को ओ होता है और शषोर्सः (२ ४३) इस सूत्र से श को स होने पर 'यमितदृवर्गान्तः (४ १७) इस सूत्र से बिन्दु होने पर तथा 'सन्ध्यावचामज्लोपविशेषाबहुलम् (४ १) इस सूत्र से ह्रस्व होने पर 'कोसंबी यह रूप सिद्ध होता है।

९० कउसलो, कोसलो—

इसकी मूल प्रकृति 'कौशलम्' है। सर्व प्रथम 'पौरादिष्वउ' (१ ४२) इस सूत्र से औ को 'अ उ' हो जाता है और 'शषोर्सः (२ ४३) इस सूत्र से श को स होने पर तथा 'अत ओत् सो (५ १) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'कउसलो' यह रूप बनता है और जिस पक्ष में औ' को अ उ' नहीं होता वहां 'औत् एत् (१ ४१) इस सूत्र से ओ होकर 'कोसलो यह रूप सिद्ध होता है।

९१ खग्गो—

इसका मूल शब्द संस्कृत का 'खड्गः' है जिसका अर्थ तलवार है। 'उपरिलोपः क ग ड त द प ष सान्' (३ १) इस सूत्र से ड् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) इस सूत्र से ग को द्वित्व होने पर

होने पर 'कगचज तद पयवां प्रायोलोप' (२ २) इस सूत्र से त् का लोप होने पर 'लोबिंदुर्नपुंसके (५ १) इस सूत्र से बिन्दु ( ) होने पर 'सलिलं' यह रूप सिद्ध होता है।

९८ थाणू—

इसकी मूल प्रकृति 'स्थाणु' है जिसका अर्थ खूंटा या ठूठ है। सर्वप्रथम 'स्थाणावहरे' (३ १५) इस सूत्र से स्थ के स्थान पर थ होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घ (५ १८) इससे दीर्घ होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

९९ खुज्जो—

इसकी मूल प्रकृति 'कुब्ज' है जिसका अर्थ कुबड़ा होता है 'कुब्जेख' (२ ३४) इस सूत्र से ख होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) इस सूत्र से ब का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३ ५ इस सूत्र से ज् को द्वित्व होने पर 'अतओत् सोः (५ १) इससे ओकार होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

१०० खोडओ—

इसकी मूल प्रकृति 'स्फोटक' है जिसका अर्थ फोड़ा है। सर्वप्रथम 'स्फोटके' (३ ३६) इस सूत्र से स्फ को ख होकर 'टोड' (२-२) इस सूत्र से ट् को ड होने पर कगचजतद पयवां प्रायो लोप (२ २) इस सूत्र से क का लोप होने पर अत ओत् सोः' (५ १) इससे ओ' होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

१०१ गअणं—

इसकी मूल प्रकृति गगनम् है जिसका अर्थ आकाश है। सर्व प्रथम 'क ग च ज त द प यवां प्रायो लोपः (२ २) इस सूत्र से ग् का लोप होने पर 'नोणः सर्वत्र (२ ४२) इस सूत्र से न कोण होने पर 'लोबिंदुर्नपुंसके (५ ३) इस सूत्र से बिन्दु ( ) होने पर 'गअणं' यह रूप बनता है।

१०२ गआ—

इसकी मूल प्रकृति गदा' है। इसमें 'कगचजतद पयवां प्रायो लोपः (२ २) इस सूत्र से द् का लोप होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

१०३ गउरवं—

इसकी मूल प्रकृति 'गौरवं' है इसमें 'गौरवादिष्वउ' (१ ४२) इस सूत्र से औ को 'अउ' होने पर तथा लोबिन्दुर्नपुंसके (५ १ , इस सूत्र से बिन्दु होने पर 'गउरवं यह रूप सिद्ध होता है।

१०४ गओ—

इसकी मूल प्रकृति 'गज' है जिसका अर्थ हाथी है। इसमें 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) इस सूत्र से ज का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे ओ होने पर 'गओ' बनता है।

१०५. गग्गरो—

इसकी मूल प्रकृति 'गद्गद' है जिसका अर्थ प्रसन्न होना होता है। सर्व प्रथम 'उपरिलोपः कगडतदपषसाम्' (३ १) इस सूत्र से द् का लोप होने पर और 'गद्गदे रः' (२ १३) इस सूत्र से अन्तिम द् को र होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५०) इस सूत्र से ग् का द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'गग्गरो' यह रूप बनता है।

१०६ गड्डहो—

इसकी मूल प्रकृति 'गर्दभ' है जिसका अर्थ गधा है। सर्व प्रथम 'गर्दभ संमर्द वितर्दि विच्छर्दि र्दस्य' (३ २६) से र्द के स्थान पर ड हो जाता है और फिर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५०) इस सूत्र से ड को द्वित्व होने पर 'खघथधभां हः' (२ २७) इस सूत्र से भ को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'गड्डहो' यह रूप बनता है।

१०७ गरिहो—

इसकी मूल प्रकृति 'गर्ह' है। सर्व प्रथम 'र्ह' की 'ह्रीश्रीत कृत्स्न क्रियादिष्ट्यास्वित् स्वप्न स्पर्श हर्षार्ह गर्हेषु' (३ ६२) इस सूत्र से ह का विप्रकर्ष यह हो जाता है और इ होकर गरिह बनता है तब 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से 'ओ' होकर 'गरिहो' यह रूप बनता है।

१०८ गरुअं—

इसकी मूल प्रकृति 'गुरु' है। इसमें सर्व प्रथम 'उतो मुकुलादिषु' (१-२२) इस सूत्र से उ को अ होने पर 'स्वार्थे कश्च वा' (४ २५) से 'क' होने पर कगचजतदपयवां प्रायो लोपः (२-२) इस सूत्र से क का लोप होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) इस सूत्र से बिन्दु होने पर 'गरुअं' यह रूप सिद्ध होता है।

१०९ गरुई—

इसकी मूल प्रकृति 'गुर्वी' है जिसका अर्थ भारी या बोझ वाली वस्तु होता है —सर्व प्रथम 'उतो मुकुलादिषु' (१ २२) इस सूत्र से गु के उ को अ हो जाता है और 'व [illegible] [illegible]' (१ १५) इस सूत्र से 'र्व' को

विप्रकर्ष होने पर र् हो जाता है और इसी सूत्र से उ भी हो जाता है। 'क ग च ज त द प य वां प्रायोलोपः' (२-२) इस सूत्र से व का लोप होने पर 'गरुई' यह रूप बनता है। 'उपदृमतन्वी समेषु' (१ १५) इस सूत्र में यद्यपि गुर्वी शब्द नहीं है तो भी तन्वी के समान होने से गुर्वी का भी ग्रहण होता है।

११० गहवई—

इसकी मूल प्रकृति गृहपति है जिसका अर्थ घर का स्वामी है। सर्व प्रथम 'ऋतोऽत्' (१ २७) इस सूत्र से ऋ को अ होता है। 'पोवः' (२ १५) इस सूत्र से प को व होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायोलोपः' (२ २) इस सूत्र से त् का लोप होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५ १८) इस सूत्र से दीर्घ होने पर 'गहवई' यह रूप सिद्ध होता है।

१११ गहिर—

इसकी मूल प्रकृति गभीरम् है। सर्व प्रथम 'इदीतः पानीयादिषु' (१ १८) इस सूत्र से भी को भि (इ) होने पर 'ख घ थ ध भां हः' (२ २७) इस सूत्र से भ् को ह होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) इस सूत्र से बिन्दु ( ) होने पर 'गहिरं' रूप बनता है।

११२ गारवं, गउरवं—

इन दोनों की मूल प्रकृति 'गौरवं' है जिस का अर्थ यश या बड़ाई है। सर्व प्रथम 'आ च गौरवे' (१ ४१) इस सूत्र से गौ के औ के स्थान पर विकल्प से 'आ' होने पर 'गारवम्' यह रूप बनता है। तब 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) इस सूत्र से बिन्दु ( ) होने पर गारवं बनता है पर जिस पक्ष में आ नहीं होता वहां 'पौरादिष्वउ' (१ ४२) इस सूत्र से 'औ' को 'अउ' होने पर पूर्ववत् बिन्दु होने पर 'गउरवं' यह रूप बनता है।

११३ गाहा—

इसकी मूल प्रकृति 'गाथा' है जिसका अर्थ कथा है। 'खघथधभां हः' (२ २७) इस सूत्र से 'थ' को 'ह' होने पर 'गाहा' यह रूप बनता है।

११४ गिट्ठी—

इसकी मूल प्रकृति गृष्टि है जिसका अर्थ एक काम विशेष होता है। सर्व प्रथम 'इदृष्यादिषु' (१ २) इस सूत्र से गृ के ऋ को इ होकर 'ष्टस्य ठः' (३ १) इस सूत्र से ष्ट के स्थान पर ठ होकर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) इस सूत्र से ठ को द्वित्व होकर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) इस सूत्र

सूत्र से प् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) इस सूत्र से ठ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) इस सूत्र से प्रथम ठ् को ट् होने पर 'पोट्ठी' यह रूप बनता है।

१२० गोसा—

इसकी मूल प्रकृति 'गोदावरी' है। एक नदी का नाम है। देशी भाषाओं में गोदावरी के लिये गोसा का प्रयोग होता था अतः 'शब्दरूपो बहुलम्' (४ ३३) इस सूत्र में वैयाकरण वररुचि ने गोसा शब्द को 'गोदावरी' शब्द के लिए निपात रूप में प्रयुक्त किया है। इसी प्रकार के अन्य देशी शब्द भी निपात कोटि में आते हैं।

१२१ घणा—

इसकी मूल प्रकृति 'घृणा' है। 'ऋतोऽत्' (१ २७) इस सूत्र से ऋ को अ होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) इस सूत्र से ण होने पर 'घणा' बनता है। किन्हीं भाषाओं में न का प्रयोग था उस न के स्थान पर प्राकृत में ण होता है।

१२२ घरं—

इसकी मूल प्रकृति 'गृहम्' है। 'गृहस्य घरोऽपतौ' (४ ३२) इस सूत्र से 'घर' होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) इस सूत्र से बिन्दु ( ) होने पर यह रूप बनता है।

१२३ चइत्ता—

इसकी मूल प्रकृति 'चैत्र' है। यह एक महीने का नाम है जिसे 'चैत' कहते हैं। 'दैत्यादिष्वइ' (१ ३६) इस सूत्र से 'ऐ' के स्थान पर 'अइ' होकर 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) इस सूत्र से र् का लोप होकर 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे ओ होकर तथा 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) इस सूत्र से त् को द्वित्व होकर 'चइत्तो' यह रूप बनता है।

१२४ चउत्थी चोत्थी-चोथी—

इसकी मूल प्रकृति 'चतुर्थी' है। 'चउत्थी' में सर्व प्रथम 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर तथा 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) इस सूत्र से त् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) इस सूत्र से थ् को द्वित्व होने पर तथा 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) इस सूत्र से पूर्व थ को त् होने पर 'चउत्थी' यह रूप बनता है। चोत्थी में चतुर्थी 'चतुर्थ्योस्तुना' (१ ९) इस सूत्र से 'ओ' होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

तथा 'विन्दुन्ते' (१ १४) इस सूत्र से 'नृ' को 'म्प' हो जाता है और 'मोबिन्दु नपुंसके (५ १) इस सूत्र से बिन्दु होने पर 'चिंध' रूप बनता है। जिस पक्ष में ए नहीं होता वहाँ सब कार्य पूर्ववत् होकर 'चिंध' यह रूप बनता है।

१३१ चिहुरो—

इसकी मूल प्रकृति 'चिकुर' है जिसका अर्थ बाल है। स्फटिकनिकष चिकुरेपुकस्यह (२ ४) इस सूत्र से क को ह होकर अत ओत् सो (५ १) इस सूत्र से ओ होकर 'चिहुरो' यह रूप बनता है।

१३२ चिलाओ—

इसकी मूल प्रकृति 'किरात' है जिसका अर्थ 'भील' है सर्व प्रथम 'हरिद्रादीनां रो लः' (२ ३) इस सूत्र से र् के स्थान पर ल होने पर किराते च (२ ३३) इस सूत्र से क को च हुआ और 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ ७) इस सूत्र से त को द होने पर अत ओत् सो (५ १) इससे ओ होने पर 'चिलाओ' यह रूप बना है।

१३३ चोरिअं—

इसकी मूल प्रकृति 'चौर्यम्' है सर्व प्रथम 'चौर्यसमेष्वरियं (१ २) इस सूत्र से 'र्य' को 'रियं' यह आदेश होकर तथा 'औत ओत् (१ ४१) इस सूत्र से औ को ओ होकर 'चोरिअं' यह रूप बनता है।

१३४ छट्ठी—

इसकी मूल प्रकृति 'षष्ठी' है। 'षट्शावक सप्तपर्णानां छः' (२ ४१) इस सूत्र से ष को छ होने पर 'ष्टस्यठः' (३ १) इस सूत्र से ष्ठ को ठ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) इस सूत्र से ठ को द्वित्व होने पर वर्गेषु युजः पूर्वः (३-५१) इस सूत्र से पूर्व ठ को ट् होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५ १८) इस सूत्र से दीर्घ होने पर 'छट्ठी' यह रूप बनता है।

१३५ छण्णं, खण्णं—

इन दोनों की मूल प्रकृति क्षणम् है। क्षमावृक्षक्षणेषुछः (३ ३१) इस सूत्र से विकल्प से क्ष को छ होने पर सोबिन्दुर्नपुंसके (५ ३) इस सूत्र से बिन्दु ( ) होने पर 'छणं' रूप बनता है। जिस पक्ष में छ नहीं होता वहाँ 'ष्कस्कक्षां खः' (३ २९) इस सूत्र से क्ष को ख होने पर तथा पूर्ववत् बिन्दु होने पर 'खणं' यह रूप बनता है।

१३६ 'छत्तवण्णो'—

इसकी मूल प्रकृति 'सप्तपर्ण' है। यह एक प्रकार की लता है। सर्व प्रथम 'षट् शावक सप्तपर्णानां छः' (२ ४१) इस सूत्र से स को छ होकर 'कगचजतदपयवां प्रायो लुक्' (१ १) इस सूत्र से प् का लोप होने पर 'शेषा-देशयो द्वित्वमनादौ' (१ ८) इस सूत्र से त् को द्वित्व होने पर 'पोवः (२ १५) इस सूत्र से पर्ण में प को व होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (१ १) इस सूत्र से र का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (१ ८) इस सूत्र से ण् को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से ओ होने पर 'छत्तवण्णो' यह रूप बनता है।

१३७ छमा, खमा—

इसकी मूल प्रकृति 'क्षमा' है। 'छमा वृक्ष क्षमेपुवा' (१ ११) इस सूत्र से क्ष को छ होने पर छमा बनता है। पर जिस पक्ष में छ नहीं होता वहाँ 'क्ष-स्कयोर्वा ख' (१ २९) इस सूत्र से ख होने पर खमा यह रूप बनता है।

१३८ छम्मुहो—

इसकी मूल प्रकृति 'षण्मुख' है जिसका अर्थ 'स्वामी कार्तिक' है। सर्व प्रथम 'षट्शावक सप्तपर्णानां छः' (२ ४१) इस सूत्र से ष को छ होता है तब 'लोप' (१ ४)इस सूत्र से ण को म् हुआ। यद्यपि 'लोप' इस सूत्र से पैशाची प्राकृत में ण् को म् होता है तो भी आरम्भ से महाराष्ट्री में भी माना जाता है अतः म् होने पर 'लोप' (१ ४१) इस सूत्र से 'ण्ण' को 'म' होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (१ ८) इस सूत्र से म् को द्वित्व होने पर 'खघथधभाम्' (१ २७) इस सूत्र से ख को ह होने पर 'अत ओत् सोः (५ १) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'छम्मुहो' यह रूप सिद्ध होता है।

१३९ छारं—

इसकी मूल प्रकृति 'क्षारम्' है। क्ष्यादिषु छः (१ १) इस सूत्र से क्ष को छ होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) इस सूत्र से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

१४० छावओ—

इसकी मूल प्रकृति 'शावक' है जिसका अर्थ बच्चा है सर्व प्रथम 'षट्शावक सप्तपर्णानां छः' (२ ४१) इस सूत्र से श को छ होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लुक्' (२ २) इस सूत्र से क का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'छावओ' यह रूप बनता है।

१४१ छाहा, छाही—

इसकी मूल प्रकृति 'छाया' है। 'छायायां हः' (२ १८) इस सूत्र से य को ह होने पर 'छाहा' यह रूप बनता है और 'आदीतौ बहुलम्' (५ २४) इस सूत्र से अन्तिम 'आ' को विकल्प से ई होने पर 'छाही' यह प्रयोग सिद्ध होता है।

१४२ छीरं—

इसकी मूल प्रकृति 'क्षीरम्' है जिसका अर्थ दूध है। 'अक्ष्यादिषु छः' (१ १) इस सूत्र से छ होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) इस सूत्र से बिन्दु होने पर 'छीरं' यह रूप बनता है।

१४३ छुण्णं—

इसकी मूल प्रकृति 'क्षुतम्' है जिसका अर्थ 'छींक' है। सर्व प्रथम 'अक्ष्यादिषु छः' (१ १) इस सूत्र से क्ष को छ होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) इससे त् का लोप होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) इस सूत्र से बिन्दु होने पर 'छुअं' यह रूप बनता है।

१४४ छुण्णो—

इसकी मूल प्रकृति 'क्षुण्ण' है जिसका अर्थ चूर्णित है। 'अक्ष्यादिषु छः' (१ १) इस सूत्र से क्ष को छ होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे 'ओ' होने पर 'छुण्णो' रूप बनता है।

१४५. छुरं—

यह शब्द 'क्षुरम्' से बना है जिसका लौकिक अर्थ छुरा है। 'अक्ष्यादिषु छः' (१ १) इस से क्ष को छ होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३०) इस सूत्र से बिन्दु (ं) होने पर यह रूप बनता है।

१४६ छेत्तं—

यह शब्द 'क्षेत्रम्' से बना है जिसका अर्थ खेत है। 'अक्ष्यादिषु छः' (१ १) इससे क्ष को छ होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (१ १) इस सूत्र से र् का लोप होने पर तथा 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से त् को द्वित्व होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) इस सूत्र से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

१४७ जइ जआ जइआ जाहे—

ये शब्द 'यदा' इससे बने हैं जिसका अर्थ जब होता है। सर्व प्रथम 'आदेर्यो जः' (२ ३१) इस सूत्र से य को ज होने पर 'इत्सदादिषु' (१ ११) इस सूत्र से दा को विकल्प से इ हो जाता है। जिस पक्ष में इ हो जाता है वहां 'जइ'

'ऋतुत्वादिषु' (१ २९) इससे उ होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे ओ होने पर यह रूप बनता है।

१५९ जामाआ जामाअरो—

इसकी मूल प्रकृति 'जामातृ' है जिसका अर्थ भी दमाद (लड़की का पति) होता है। 'आ च सौ' (५ ३५) इस सूत्र से ऋ को आ होने पर तथा 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२-२) इससे त का लोप होने पर 'जामाआ' यह बनता है और इसी सूत्र से ऋ को 'अर' होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे ओ होने पर 'जामाअरो' बनता है।

१६० जीअं जीविअं—

इसकी मूल प्रकृति 'जीवितम्' है। सर्वप्रथम 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ २) इस सूत्र से व तथा त का लोप होने पर 'सन्धावचामज्लोपविशेषा बहुलम्' (४ १) से इ का लोप होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर 'जीअं' यह रूप बनता है—पर 'यावदादिषु वस्य' (४ ५) इस सूत्र से व् का लोप विकल्प से होने पर जिस पक्ष में व का लोप नहीं होता उसमें 'जीविअं' यही रूप बनता है।

१६१ जीहा—

यह शब्द 'जिह्वा' से बना है। 'इत् सिंह जिह्वयोश्च' (१ १७) इस सूत्र से छोटे इ को दीर्घ होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) इससे व का लोप होने पर 'जीहा' यह रूप बनता है।

१६२ जुगुच्छा—

इसकी मूल प्रकृति 'जुगुप्सा' है जिसका अर्थ निन्दा या घृणा है। 'श्वत्सप्सां छः (३ ४) इस सूत्र से प्स के स्थान पर छ हो जाता है और 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) इस सूत्र से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) इस सूत्र से पूर्व छ को च् होने पर 'जुगुच्छा' यह रूप सिद्ध होता है।

१६३ जुआ जुआणो—

इसकी मूल प्रकृति 'युवन्' है। सर्व प्रथम 'आदेर्यो जः' (२ ३१) इस सूत्र से य को ज होने पर 'अन्त्यस्य हलः' (४ ६) से न् का लोप होने पर 'राज्ञश्च' (५ ११) से दीर्घ होने पर 'जुआ' रूप बनता है। जुआणो में न् का लोप न होने पर 'नो णः सर्वत्र' (२ ४२) इस सूत्र से न् को ण होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे ओ होने पर 'जुआणो' रूप सिद्ध होता है।

१६४ जोग्गो—

यह शब्द 'योग्य' से बना है। सर्व प्रथम 'आदेर्यो जः' (२ ११) इस सूत्र से य को ज होने पर 'अधोमनयाम्' (१ २) इससे दूसरे य का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) इससे ग् को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर 'जोग्गो' रूप बनता है।

१६५ जोव्वण—

इसकी मूल प्रकृति 'यौवनम्' है। सर्व प्रथम आदेर्यो जः (२ ११) इस सूत्र से य को ज होने पर 'औत ओत्' (१ ४१) इससे औ को ओ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) इस सूत्र से व को द्वित्व होने पर नोणः सर्वत्र (२ ४२) से न् को ण हुआ और सोर्बिन्दुर्नपुंसके (५ १) इससे बिन्दु होने पर 'जोव्वणं' यह रूप बनता है।

१६६ डम्भो—

इसकी मूल प्रकृति 'दम्भः' है। दोलादण्डदशनेषु डः (२ ३५) इस सूत्र से द को ड होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे ओ होने पर 'डम्भो' यह रूप बनता है।

१६७ डसणो—

यह शब्द 'दशन' से बना है जिसका अर्थ दाँत है। सर्व प्रथम 'दोलादण्डदशनेषु डः' (२ ३५) इस सूत्र से द को ड होने पर 'शषोः सः' (२ ४२) इस सूत्र से श को स होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) इससे न् को ण हुआ तब 'अत ओत् सोः' (५ १) इस सूत्र से ओ होने पर 'डसणो' यह रूप सिद्ध होता है।

१६८ डोला—

यह शब्द 'दोला' से बना है जिसका अर्थ झूला है। 'दोला दण्ड दशनेषु डः' (२-३५) इससे द को ड होने पर यह शब्द बनता है।

१६९ णअणं—

इसकी मूल प्रकृति 'नयनम्' है। सर्व प्रथम 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) इस सूत्र से य का लोप होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) से दोनों न को ण् होकर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) इस सूत्र से बिन्दु होने पर 'णअणं' बनता है

१७५ णट्टओ—

इसकी मूल प्रकृति 'नर्तक' है जिसका अर्थ नाचने वाला होता है। सर्व प्रथम 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) इस सूत्र से न को ण होने पर 'र्तस्यटः' (१ २२) इस सूत्र से र्त के स्थान पर ट होने से 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (१ ५) में ट को द्वित्व होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ २) से क का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे ओ होने पर 'णट्टओ' यह रूप बनता है।

१७६ णवर—

यह शब्द निपात है और संस्कृत के 'केवलम्' के अर्थ में प्रयुक्त होता है इसकी रूप सिद्धि नहीं होती 'णवर केवले' (९-७) इस सूत्र से केवल अर्थ में णवर का प्रयोग होता है।

१७७ णवरि—

यह भी निपात है और संस्कृत के आनन्तर्य अर्थ में यह प्रयुक्त होता है। 'आनन्तर्ये णवरि' (९ ८) इस सूत्र से आनन्तर्य अर्थ में णवरि का प्रयोग होता है।

१७८ णवि—

यह भी निपात है और संस्कृत के विपरीत अर्थ मे इसका प्रयोग होता है 'णवि वैपरीत्ये' इस सूत्र से विपरीत अर्थ मे 'णवि' शब्द निपातित है।

१७९ णहं—

इसकी मूल प्रकृति 'नभस्' है जिसका अर्थ आकाश है। सर्वप्रथम 'नोणः सर्वत्र' (४२) इस सूत्र से न को ण होने पर 'खघथधभां हः' (२ २७) इस सूत्र से भ को ह होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३०) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता 'सान्त प्रावृट्शरदः पुंसि' (४ १८) इस सूत्र से पुल्लिंग प्राप्त होने पर 'न शिरोनभसी' (४ १९) इस सूत्र से निषेध होने पर नपुंसक लिंग ही होता है।

१८० णक्खो णहो—

इसकी मूल प्रकृति 'नख' है। णक्खो रूप मे सर्व प्रथम 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) इस सूत्र से न को ण होने पर 'सेवादिषु च' (१ ५) इस सूत्र से विकल्प से द्वित्व होने पर जिस पक्ष में द्वित्व होता है वहां ख को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) इस सूत्र से पूर्व ख को क होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे ओ होकर 'णक्खो' यह रूप बनता है पर जिस पक्ष

में द्वित्व नहीं होता वहां पूर्ववत् ण् होने पर 'खघथधभां हः' (२ २७) इससे भ को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे ओ होने पर 'णहो' रूप बनता है।

१८१ णिच्चं—

इसकी मूल प्रकृति 'नित्यम्' है। सर्वप्रथम 'नो णः सर्वत्र' (२ ४२) इससे न को ण होने पर 'त्यथ्यद्यां चछजाः' (३ २७) इस सूत्र से त्य को च होने पर शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ (३ ५) इस सूत्र से द्वित्व होने पर सोर्बिन्दुर्नपुंसके (५ ३) इस सूत्र से बिन्दु ( ) होने पर 'णिच्चं' यह रूप बनता है।

१८१ णिज्झरो—

इसकी मूल प्रकृति 'निर्झर' है। सर्वप्रथम 'नो णः सर्वत्र (२ ४२) इस सूत्र से न को ण होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) इस सूत्र से झ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः (३ ५१) इस सूत्र से पूर्व झ को ज होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

१८३ णिट्ठुरो—

इसकी मूल प्रकृति 'निष्ठुर' है जिसका अर्थ कठोर या निर्दय है। सर्वप्रथम 'नो णः सर्वत्र' (२ ४२) इस सूत्र से न को ण होने पर 'उपरि लोपः क ग ड त द प ष साम्' (३ १) इस सूत्र से ष् का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३ ५) इस सूत्र से ठ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) इस सूत्र से प्रथम ठ् को ट् होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे ओ होने पर 'णिट्ठुरो' रूप बनता है।

१८४ णिडालं—

इसकी मूल प्रकृति 'ललाटम्' है जिसका अर्थ माथा है। 'णडालपोण्डुलम्' (४ ११) इस सूत्र से ललाटम् के स्थान पर यह आदेश हो जाता है।

१८५ णिद्दा—

इसकी मूल प्रकृति 'निद्रा' है। सर्वप्रथम 'नो णः सर्वत्र' (२ ४२) इस सूत्र से न् को ण होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५) इस सूत्र से द् को द्वित्व होने पर यह रूप बनता है।

१८६ णिद्दालू—

यह शब्द निद्रावान् के अर्थ में प्रयुक्त होता है। पूर्व प्रकार से निद्दा सिद्ध हो जाने पर 'आल्विल्लोल्लाल वन्तेन्तामतुपः' (४ २५) इस सूत्र से 'आलु' होने पर 'सुभिसुप्सुदीर्घ' (५ १८) इससे दीर्घ होने पर यह शब्द सिद्ध होता है।

१८७ णिप्फाओ—

इसकी मूल प्रकृति निष्पाप है। सर्वप्रथम 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) इस सूत्र से न को ण होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) इससे अन्तिम प् का लोप होने पर 'ष्पस्य फः' (३ ३५) इस सूत्र से 'ष्प' के स्थान पर 'फ' होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३ ५) से फ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) इस सूत्र से पूर्व फ् को प् होने पर अत ओत् सो' (५ १) से ओ होने पर 'णिप्फाओ' यह रूप बनता है।

१८८ णिवत्तओ—

इसकी मूल प्रकृति 'निवर्तकः' है। सर्वप्रथम 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न को ण होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) स र् का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३ ५) इस सूत्र से त् को द्वित्व होने पर कगचजतदपयवां प्रायोलोपः (२ २) इससे क का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे ओ होने पर यह रूप बनता है।

१८९ णिविडो—

इसकी मूल प्रकृति 'निविड' है। 'नोणःसर्वत्र (२ ४२ से न को ण होने पर अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है। इसमें ड को ण नहीं होता है क्योंकि 'डस्य च' (२ २३) इस सूत्र से ण प्रायः होता है सब जगह नहीं होता।

१९० णिव्वुदं—

इसकी मूल प्रकृति निवृत' है। सर्वप्रथम 'नोणःसर्वत्र' (२ २) इस सूत्र से न को ण होता है। 'उदृत्वादिषु (१ २९) से ऋ को उ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५) इस सूत्र से व को द्वित्व होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर 'ऋत्वादिषुतोदः (२ ७) इस सूत्र से त् को द् होने पर 'सौबिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु ( ) होने पर यह रूप बनता है।

१६१ णिव्वुदी—

इसकी मूल प्रकृति 'निर्वृतिः' है। इसमें सब कार्य 'णिव्वुदं' के समान होने पर छोटी इ को 'सुभिसस्सुदीर्घः' (५ १८) इससे दीर्घ होने पर 'णिव्वुदी' रूप बनता है।

१६२ णिसढो—

इसकी मूल प्रकृति 'निषधः' है। सर्वप्रथम 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) इस सूत्र से न् को ण होने पर 'शषोःसः' (२ ४३) इस सूत्र से ष् को स होने पर 'प्रथमशिथिल निषधेषु' (२ २) इस सूत्र से ध का ढ होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे ओ होने पर यह रूप बनता है।

१६३ णिसा—

यह शब्द 'निशा' से बनता है जिसका अर्थ रात है। सर्वप्रथम 'नोणःसर्वत्र' (२ ४२) से न को ण होने पर 'शषोःसः' (२ ४३) इस सूत्र से श को स होने पर यह रूप बनता है।

१६४ णिस्सासो णीसासो—

इसकी मूल प्रकृति 'निश्वासः' है। सर्वप्रथम 'नोणःसर्वत्र' (२ ४२) से न को ण होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) से व का लोप होने पर 'शषोःसः' (२ ४३) से श् को स होने पर 'सेवादिषु च' (३ ५) से स को विकल्प से द्वित्व होता है जिस पक्ष में द्वित्व होता है वहाँ 'णिस्सासो' यह रूप बनता है। इसमें 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ हो जाता है 'ईत् सिंह जिह्वयोश्च' (१ १७) से च का पाठ होने से (अर्थात् सिंह और जिह्वा के अतिरिक्त शब्दों को भी) ई हो जाता है इस सूत्र से ई हो जाने पर दोनों में ई हो जाता है पर 'ह्रस्वः संयोगे' (हेमचन्द्र) से जहाँ द्वित्व होता है वहाँ णी को णि हो जाता है और जहाँ द्वित्व नहीं होता वहाँ 'णीसासो' यह रूप बनता है।

१६५ णिहसो—

इसकी मूल प्रकृति 'निकष' है जिसका अर्थ कसौटी है। सर्वप्रथम 'नोणःसर्वत्र' (२ ४२) से न को ण होने पर 'स्फटिकनिकषचिकुरेषु कस्य हः' (२ ४) इस सूत्र से क को ह होने पर 'शषोःसः' (२ ४३) से ष को स होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर णिहसो यह रूप बनता है।

१६६ णूम णूण—

ये दोनों प्रयोग 'नूनम्' से बने हैं जिसका अर्थ 'निश्चय' है यह अव्यय है। इसमें 'नोणःसर्वत्र' (२) से दोनों न को ण होने पर 'मान्तादिषु वा' (४ १६) इस सूत्र से विकल्प से बिन्दु ( ) होने पर ये रूप बनते हैं।

१९७ णेउर—

इसकी मूल प्रकृति 'नूपुरम्' है। यह एक आभूषण है जो पैरों में पहना जाता है। सर्वप्रथम 'इन्नूपुरे' (१ २६) से 'नू' को 'ने' होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न को ण होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायोलोपः (२ २) से प् का लोप होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग सिद्ध होता है।

१९८ णेडं, णेड्डं—

इसकी मूल प्रकृति नीडम्' है जिसका अर्थ घोंसला है। 'एन्नीडापीडकी दृशीदृशेषु' (१ १९) इस सूत्र से 'नी' की 'ई' को 'ए' होने पर 'नोणःसर्वत्र' (४२) से न को ण होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर 'णेडं' रूप बनता है। पक्ष में 'सेवादिषु च' (३ ५८) से द्वित्व होने पर 'णेड्डं' रूप बनता है।

१९९ णेहा, णिद्दा—

इसकी मूल प्रकृति 'निद्रा' है। इसका अर्थ नींद है। सर्वप्रथम नोणःसर्वत्र' (२ ४२) से न को ण होने पर 'इत एत् पिण्डसमेषु' (१ १२) इस सूत्र से विकल्प से इ को ए होता है जिस पक्ष में ए होता है वहां 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५) से द् को द्वित्व होने पर 'णेद्दा' रूप बनता है पर जिस पक्ष में ए नहीं होता वहां 'णिद्दा' यही रूप रहता है।

२०० णेहो—

इसकी मूल प्रकृति 'स्नेह' है जिसका अर्थ प्रेम है। 'उपरिलोपः कगडतदपषसाम्' (३ १) से स का लोप होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न् को ण होने पर अत ओत् सोः (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२०१ णोमल्लिआ—

इसकी मूल प्रकृति 'नवमल्लिका' है जिसका अर्थ एक विशेष प्रकार की सुगन्धित लता है। सर्वप्रथम 'लवण नवमल्लिकयोर्वेन' (१ ७) इस सूत्र से नव के न के अ तथा व को मिलाकर ओ होने पर नो बनता है। तब 'नोणःसर्वत्र' (२ ४२) से न को ण होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायोलोपः' (२ २) से क का लोप होने पर यह रूप बनता है।

२०२ ण्हाणं—

इसकी मूल प्रकृति 'स्नानम्' है। सर्वप्रथम 'सूक्ष्मश्नष्णस्नह्नह्णक्ष्णां ण्हः' (३ ३३) इस सूत्र से स्न के स्थान पर 'ण्ह' होकर 'नोणःसर्वत्र' (२ ४२) से न को ण

होने पर 'मोबिन्दुर्मयुतके' (४ १) से बिन्दु ( ) होने पर 'म्हार्गं' रूप बनता है।

२०३ तइ तआ—

इसकी मूल प्रकृति 'तदा' है जिसका अर्थ तब होता है यह सर्वनाम है। 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से द् का लोप होने पर 'इदेदाविदुर्' (१ ११) इस सूत्र से विकल्प से आ को इ होने पर 'तइ' तथा 'तआ' ये दो रूप बनते हैं।

२०४ तणं—

इसका मूल रूप 'तृणम्' है जिसका अर्थ तिनका या घास है। 'ऋतोऽत्' (१ २७) से ऋ को अ होने पर 'मोबिंदुर्मयुतके' (४ १) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२०५. तणुई—

इसकी मूल प्रकृति 'तन्वी' है जिसका अर्थ दुबली या पतली होता है। यह शब्द प्रायः स्त्रियों के लिये प्रयुक्त होता है। सर्वप्रथम 'उन्वङ्तन्वी समेषु' (१ १५) से संयुक्त वर्णों का विप्रकर्ष (स्वरभक्ति) हो जाता है और पूर्व को उ होता है तब 'तनुवी' यह रूप बनता है। 'नो णः सर्वत्र' (२-४२) से न को ण होने पर और 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से व का लोप होने पर 'तणुई' बनता है।

२०६ तंब—

इसकी मूल प्रकृति 'ताम्र' है। 'आम्रताम्रयोर्बः' (३-५३) इस सूत्र से दो बकार होते हैं और ह्रस्वः संयोगे (१पन्न) से आ को छोटा अ हो जाता है 'मोबिंदुर्मयुतके' (४ १) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२०७ तंबो—

इसकी मूल प्रकृति 'स्तम्ब' है जिसका अर्थ समूह या गुच्छ है। 'उपरिलोपः कगडतदपषसाम्' (३ १) इस सूत्र से स् का लोप होने पर 'मयि सत् वर्गेषु' (४ १७) से म् को बिन्दु होने पर 'अत ओत् सोः' से ओ होने पर 'तंबो' रूप बनता है।

२०८ तलाअं—

इसकी मूल प्रकृति 'तडागम्' है जिसका अर्थ तालाब है। 'डस्य लः' (२-२३) इस सूत्र से ड को ल होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२-२) इस सूत्र

से म् का लोप होने पर 'क्लीबे सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२०९ तलवेण्टम्, तालवेण्टम्—

इसकी मूल प्रकृति 'तालवृन्तकम्' है जिसका अर्थ पंखा होता है। 'अदा तोमचारिपुवा' (१ १) इस सूत्र से आ को विकल्प से अ होता है। वृ के ऋ को 'इदृष्यादिषु' (१ २८) इस सूत्र से इ होकर 'इतएत् पिण्डसमेषु' (१ १२) से ए हो जाता है। 'तालवृन्तेण्टः (१ ४५) इस सूत्र से न्त को ण्ट होकर 'कगचजतदपयवां प्रायोलोपः' (२ २) से क का लोप होने पर सोर्बिन्दु र्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु ( ) होने पर 'तलवेण्टम्' बनता है। जिस पक्ष में अ नहीं होता वहां 'तालवेण्टम्' बनता है।

२१० तिप्पं—

यह शब्द 'तीक्ष्णम्' से बना है जिसका अर्थ तेज है। सर्वप्रथम 'सूक्ष्मश्न ष्णस्नह्नां ह्नः' (३ ३३) से क्ष्ण को ण्ह होने पर 'ह्रस्वः संयोगे' (हेमचन्द्र) इससे ती को ति होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२११ तुण्हिक्को, तुण्हिओ—

ये दोनों शब्द 'तूष्णीकः' से बने हैं जिसका अर्थ शान्त या चुपचाप है। 'सूक्ष्मश्नष्णस्नह्नां ह्नः' (३ ३३) इस सूत्र से ष्ण को 'ण्ह' होने पर ह्रस्वः संयोगे (हेमचन्द्र) के अनुसार ई को इ होने पर 'आद्यायचो मध्ये लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) इस सूत्र से ऊ को उ होने पर 'सेवादिषु च' (३ ५८) से क को द्वित्व होने पर तथा 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर 'तुण्हिक्को' रूप बनता है पर जिस पक्ष में द्वित्व नहीं होता वहां 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से क का लोप होने पर 'तुण्हिओ' यह रूप बनता है।

२१२ तुरिअं—

इसकी मूल प्रकृति 'त्वरितम्' है जिसका अर्थ जल्दी या शीघ्रता है। सर्वप्रथम 'त्वरेस्तुरः' (८ ५) से त्व का तुर आदेश हो जाता है और ऋ (७ ३२) से इ होकर तुरि बनता है तब 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से त् का लोप होने पर सोर्बिन्दुर्नपुंसके (५ १) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२१३ तेल्लोक्कं, तेल्लोक्कं, तेलोक्कं—

ये तीनों प्रयोग प्राकृत भाषाओं में त्रैलोक्यम् के होते हैं। सर्व प्रथम 'ऐत एत्' (१ ३५) इस सूत्र से ऐ के स्थान पर ए हो जाता है और फिर

सर्वत्र लवराम्' (३ ३) इस सूत्र से र का लोप होने पर ते बनता है। 'सेवादिषु' (३ ५८) इस सूत्र से ल को द्वित्व होता है और 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५०) इस सूत्र से क को द्वित्व होने पर 'सोऽबिन्दुर्नपुंसके' (५ ३०) से बिन्दु होने पर 'तेल्लोक्कं' यह रूप बनता है। 'सेवादिषु' (३ ५८) से द्वित्व विकल्प से होता है। अतः द्वित्व न होने पर 'तेलोक्कं' यह रूप बनता है। द्वित्व न होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से क का लोप होने पर 'तेलोअं' यह रूप बनता है।

२१४ तोण्डं—

इसकी मूल प्रकृति 'तुण्डम्' है जिसका अर्थ नाक है। 'उत ओत् तुण्डरूपेषु' (१-२०) इस सूत्र से उ को ओ होने पर 'सोऽबिन्दुर्नपुंसके' (५ ३०) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२१५, थवओ—

इसकी मूल प्रकृति 'स्तवक' है जिसका अर्थ गुच्छा है। सर्वप्रथम 'स्तस्य थः' (३ १२) इस सूत्र से स्त के स्थान पर थ होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२-२) इस सूत्र से क का लोप होने पर 'अत ओत् सोः (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है। इस सूत्र में (कगचजतद में प्रायो ग्रहण करने से व् का लोप नहीं होता।

२१६ थाणू—

इसकी मूल प्रकृति 'स्थाणु' है जिसका अर्थ खम्भा है। 'स्थाणावहरे' (३ १५) इस सूत्र से स्था को था होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५ १८) से दीर्घ होने पर 'थाणू' यह रूप बनता है।

२१७ थुई—

इसकी मूल प्रकृति 'स्तुति' है। 'स्तस्य थः' (३ १२) से स्त को थ होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायो लोपः (२ २) से त् का लोप होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५ १८) से दीर्घ होने पर थुई यह रूप बनता है।

२१८ दइच्चो—

इसकी मूल प्रकृति 'दैत्य' है। सर्वप्रथम 'दैत्यादिष्वइ' (१ ३६) इस सूत्र से ऐ को अइ होने पर 'त्यथ्यद्यां चछजाः' (३-२७) से त्य को च होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५०) इस सूत्र से च को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः (५ १) से ओ होने पर 'दइच्चो' यह रूप बनता है।

२३० दाढा—

इसकी मूल प्रकृति 'दंष्ट्रा' है जिसका अर्थ दाढ़ होता है। 'दाढादयो बहुलम्' (४ ११) इस सूत्र से दाढा शब्द 'दंष्ट्रा' के लिये प्रयुक्त होता है। यह शब्द निपात है।

२३१ दालिमं—

यह शब्द 'दाडिमं' से बना है जिसका अर्थ अनार है। 'डस्य ल' (२ २१) इस सूत्र से ड को ल होने पर 'सोबिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) इससे बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२३२ दिअरो, देअरो—

इसकी मूल प्रकृति 'देवरः' है। 'ऐत इद् वेदनादेवरयोः' (१ ३४) इस सूत्र से ए को इ होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ २) इस सूत्र से व् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर 'दिअरो' रूप बनता है। कहीं-कहीं 'देअरो' यह रूप भी बनता है।

२३३ दिअहो, दिअसो—

इसकी मूल प्रकृति 'दिवस' है। 'दिवसे सस्य' इस सूत्र से स को विकल्प से ह होने पर तथा 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ २) इस सूत्र से व् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे 'ओ' होकर 'दिअहो' यह रूप बनता है। जिस पक्ष में ह नहीं बनता वहां 'दिअसो' यह रूप होता है।

२३४ दिग्घं, दीहं—

इसकी मूल प्रकृति 'दीर्घम्' है। 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर 'सेवादिषु च' (३-५८) से घ को द्वित्व विकल्प से होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) से पूर्व घ को ग होने पर 'ह्रस्वः संयोगे' (हेमचन्द्र) से ई को इ होने पर 'सोबिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु ( ) होने पर यह रूप बनता है। जिस पक्ष में द्वित्व नहीं होता वहां संयोग न होने पर ह्रस्व नहीं होता पर र् का लोप पूर्ववत् होने पर 'ख घ थ ध भां हः' (२ २७) से घ को ह होने पर 'सोबिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर 'दीहं' रूप बनता है।

२३५. दिट्ठी—

इसकी मूल प्रकृति 'दृष्टि' है। सर्व प्रथम 'इ दृष्यादिषु' (१ २८) इस सूत्र से ऋ को इ होने पर 'ष्टस्य ठः' (३ १०) इस सूत्र से ष्ट को ठ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५०) से ठ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः

प्रायोलोपः' (२ २) से क का लोप होने पर अत ओत् सो' (५ १) से ओ होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

२४१ विअरो, वेअरो—

इसकी मूल प्रकृति 'वेदर' है 'एतइद् वेदनादेवरयोः (१ ३४) इस सूत्र से ए को इ होने पर क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः (२ २) से द् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः (५ १) से 'ओ' होने पर विअरो' रूप बनता है। ए को इ न होने पर वेअरो यह भी प्रयुक्त होता है।

२४२ वेवस्थुई वेवथुई—

ये दोनों शब्द 'देव स्तुति' से बने हैं। सर्वप्रथम 'स्तस्थ' (३ १२) इस सूत्र से स्त को थ होने पर समासेवा' (१ ५७) से विकल्प से थ को द्वित्व होने पर पूर्व थ् को 'वर्गेषु युजः पूर्व (३ ५१) से त् होने पर क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः (२ २) से त् का लोप होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घ (५ १८) से दीर्घ होने पर 'देवत्थुई' यह रूप बनता है पर जिस पक्ष में द्वित्व नहीं होता वहां 'देवथुई' यही रूप होता है।

२४३ दइव, देव्व—

इन दोनों की मूल प्रकृति 'दैवम्' है। सर्वप्रथम 'दइवं' में दैवेवा' (१ ३७) इस सूत्र से ऐ को 'अइ' विकल्प से होता है जिस पक्ष में 'अइ' हो जाता है वहां सोबिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर 'दइवं' रूप बनता है पर जिस पक्ष में अइ' नहीं होता वहां 'ऐत-एत्' १ ३५) से 'ए को 'ए' होने पर 'सेवादिषु' इस सूत्र से व् को विकल्प से द्वित्व होता है और 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर 'देव्वं' रूप बनता है।

२४४दो हलो—

इसकी मूल प्रकृति 'दोहद' है जिसका अर्थ 'गर्भ की पीड़ा है। सर्वप्रथम 'प्रदीप्तकदम्ब दोहदेषल' (२ १२) इस सूत्र से अन्त के द को ल होने पर अत् ओत सो' (५ १) से ओ होने पर 'दोहलो' यह रूप बनता है।

२४५ दोहो द्रोहो—

इसकी मूल प्रकृति द्रोह है। सर्वप्रथम 'सर्वत्र लवराम्' (३ ४) इस सूत्र से विकल्प से र् का लोप होने पर अत ओत् सो' (५ १) से ओ होने पर दोनों रूप बनते हैं।

२४६ घणं—

यह शब्द 'घन' से बना है। 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) इस सूत्र से न् को ण होने पर 'सो बिन्दु' (४ १२) से बिन्दु होने पर 'घणं' बनता है।

२४७ धणालो—

संस्कृत के 'धनवत्' या 'धनवान्' के अर्थ में प्राकृत भाषाओं में यह रूप बनता है। आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणा मतुपः (४ २५) इस सूत्र से मतुप् अर्थ में वन् या वान् को 'आल' हो जाता है और 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) इस सूत्र से न् को ण होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर 'धणालो' यह शब्द बनता है। जिस पक्ष में 'आल' नहीं होता वहां 'धणवन्तो' यही रूप होता है।

२४८ धम्मेल्लं, धम्मिल्लं—

इसकी मूल प्रकृति 'धम्मिल्ल' है जिसका अर्थ 'बंधे हुए या सुन्दर बाल' है। 'इत एत् पिण्डसमेषु' (१ १२) इस सूत्र से विकल्प से इ को ए होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) इस सूत्र से बिन्दु होने पर ये रूप बनते हैं।

२४९ धीआ धूआ, धिया धूआ—

इसकी मूल प्रकृति 'दुहिता' है जिसका अर्थ लड़की है। [illegible] इस सूत्र से दुहिता के अर्थ में 'धीआ' का प्रयोग होता है। कहीं कहीं धिआ धूआ आदि रूप भी प्रयुक्त होते हैं।

२५० धीरं—

इसकी मूल प्रकृति 'धैर्यम्' है। सर्वप्रथम 'ऐत एत्' (१ ३५) इस सूत्र से ए को ई होने पर धी बनता है तब 'सूर्य धैर्य सौन्दर्याश्चर्य पर्यन्तेषु रः' (३ १८) इस सूत्र से र्य को र होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२५१ धुत्तो—

इसकी मूल प्रकृति 'धूर्त' है। 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५०) इस सूत्र से त को द्वित्व होने पर 'सन्ध्यावामद्यलोप विशेषा बहुलम्' (४ १) से ऊ को उ होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है। इसमें 'र्तस्य टः' (३ २२) इस सूत्र से र्त को ट होना चाहिये था पर 'न धूर्तादिषु' (३ २४) से ट का निषेध हो जाता है।

२५२ धुरा—

इसकी मूल प्रकृति 'धुर्' है जिसका अर्थ बोझ या धुरी होता है। 'रो रा' (४-८) इस सूत्र से अन्तिम 'र्' को 'रा' होने पर यह रूप बनता है।

२५३ पअड, पाअडं—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रकटम्' है जिसका अर्थ प्रकट होना है। 'अः समृद्ध्यादिषु वा' (१ २) इस सूत्र से विकल्प से आ होता है। 'सर्वत्र लवराम्' (१ १) से र् का लोप हो जाता है। 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से क का लोप होने पर 'टोडः' (२-२) से ट को ड होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर ये दो रूप बनते हैं।

२५४ पउअ पाउअं—

इसकी मूल प्रकृति 'प्राकृतम्' है। 'अदातोयथादिषु वा' (१ १) इस सूत्र से आ को विकल्प से अ होने पर सर्वत्र लवराम् (३ १) इस सूत्र से 'प्रा' के र् का लोप होने पर 'उदृत्वादिषु' (१ २९) से ऋ को उ होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायोलोपः' (२ २) से क तथा त् का लोप होने पर सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर ये दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

२५५. पउत्ती—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रवृत्ति' है। 'सर्वत्रलवराम्' (३ १) से र् का लोप होने पर तथा व् का भी इसी सूत्र से लोप होने पर 'उदृत्वादिषु' (१ २९) से ऋ का उ होने पर उपरिलोपः कगडतदपषसाम्' (३ १) से 'त्ति' के एक त् का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३ ५) से त् को द्वित्व होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः (५ १२) से दीर्घ होने पर यह रूप बनता है।

२५६ पउमं—

इसकी मूल प्रकृति 'पद्मम्' है जिसका अर्थ कमल है। 'उः पद्मतन्वीसमेषु' (१ ६२) इस सूत्र से संयुक्त वर्ण 'द्म' का विप्रकर्ष (स्वरभक्ति) हो जाने पर तथा उ होने पर कगचजतदपयवां प्रायो लोपः (२ २) से द् का लोप होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके (५ १) से बिन्दु होने पर 'पउमं' रूप बनता है।

२५७ पउरो—

इसकी मूल प्रकृति 'पौरः' है जिसका अर्थ नगर निवासी है। 'पौरादिष्व च' इस सूत्र से 'औ' को 'अउ' होता है और अत ओत् सोः (५ १) से ओ होकर यह रूप बनता है।

२५८ पउरिसो—

इसकी मूल प्रकृति 'पौरुष' है। 'पौरादिष्वउ' (१ ४२) इस सूत्र से औ को 'अउ' होने पर 'उदुत्वेरो' (१ २१) इस सूत्र से रु के उ को इ होने पर

'शषोः सः' (२ ४३) से ष को स होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर 'पउरिसो' यह रूप बनता है। 'इदुत्पुरुषे रोः' (१ २३) इस सूत्र में पुरुष से पौरुष भी ग्रहण होता है।

२५९ पुरिसो—

इसकी मूल प्रकृति 'पुरुष' है। इसमें 'इदुत्पुरुषे रोः' (१ २३) से र के उ को इ होने पर 'शषोः सः' (२ ४३) से ष को स होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से 'ओ' होने पर यह रूप बनता है।

२६० पवट्ठो पओट्ठो—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रकोष्ठ' है जिसका अर्थ घर का एक कोठा होता है। सर्वप्रथम 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) से प्र के र् का लोप होने पर 'ओतोऽद्वा प्रकोष्ठे कस्य वः' (१ ४) इस सूत्र से को के ओ को अ होता है और क को व होता है पर ये दोनों कार्य विकल्प से होते हैं। अतः एक पक्ष में 'प्रको' के स्थान पर प व होने पर 'ष्टस्य ठः' (३ १०) इस से 'ष्ट' के स्थान पर ठ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५०) इस सूत्र से ठ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) इस सूत्र से पूर्व ठ को ट होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर 'पवट्ठो' यह रूप बनता है पर जिस पक्ष में क को व नहीं होता और अ नहीं होता वहां 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से क का लोप होने पर तथा शेष कार्य पूर्ववत् होने पर 'पओट्ठो' यह रूप बनता है।

२६१ पच्चक्खं—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रत्यक्षम्' है। सर्वप्रथम 'सर्वत्रलवराम्' इस सूत्र से प्र के र् का लोप होने पर 'त्यथ्यद्यां चछजाः' (३ २७) इस सूत्र से त्य को च होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५०) इस सूत्र से च को द्वित्व होने पर 'क्षः खः' (३ २९) से क्ष को ख होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५०) से ख को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) से पूर्व ख को क् होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३०) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२६२ पच्छं—

इसकी मूल प्रकृति 'पथ्यम्' है। 'त्यथ्यद्यां चछजाः' (३-२७) इस सूत्र से थ्य को छ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५०) से छ को द्वित्व होने प 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) से पूर्व छ को च् होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३०) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२६३ पच्छिमं—

यह शब्द 'पश्चिमम्' से बना है। सर्वप्रथम 'श्चत्सप्सां छः' (३ ४) से श्च को छ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) से पूर्व छ को च् होने पर 'मो बिन्दुः' (४ १२) से बिन्दु (ं) होने पर यह रूप बनता है।

२६४ पज्जत्तो—

इसकी मूल प्रकृति 'पर्याप्तः' है। सर्वप्रथम 'र्यशय्याभिमन्युषु जः' (३ १७) इस सूत्र से र्य को ज होने पर 'ह्रस्वः संयोगे' (हेमचन्द्र) इससे आ को अ होने पर तथा 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से प् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से ज तथा त् दोनों को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर 'पज्जत्तो' यह रूप बनता है।

२६५ पज्जुण्णो—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रद्युम्नः' है। सर्वप्रथम 'म्न ज्ञ पञ्चाशत् पञ्चदशे दत्ते' (३ ४४) इस सूत्र से म्न के स्थान पर ण् होने पर 'द्य य्य र्यां जः' (३ २७) से द्य को ज होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) इस सूत्र से ज् तथा ण् दोनों को द्वित्व होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से प्र के र् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२६६ पट्टणं—

इसकी मूल प्रकृति 'पत्तनम्' है। सर्वप्रथम 'पत्तने' (३ २१) इस सूत्र से त के स्थान पर ट हो जाता है तथा 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से ट् को द्वित्व होने पर 'नो णः सर्वत्र' (२ ४२) से न् को ण् होने पर 'सौ बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु (ं) होने पर यह रूप बनता है।

२६७ पडाआ—

इसकी मूल प्रकृति 'पताका' है जिसका अर्थ ध्वजा या झण्डा है। 'प्रतिसर वेतस पताकासु डः' (२ ८) इस सूत्र से त को ड होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से क का लोप होने पर 'पडाआ' यह रूप बनता है।

२६८ पडिसुअं—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रतिश्रुतम्' है जिसका अर्थ प्रतिज्ञा करना है। 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से प्र के र् का लोप होने पर 'प्रतिसर वेतस पताकासु ड'

(२-८) से द् को ड होने पर 'शषोः सः' (२ ४१) से ष को स होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (१ १) से म् के र का लोप होने पर म्-तम् के त को 'समासे वा स्तम्भो स्तम्बयोर्वा' (१२ १) से द होने पर 'वक्रादिषु व' (४ १५) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२६९ पडिवआ, पाडिवआ—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रतिपदा' है जिसका अर्थ पहली तिथि या परेवा है। 'सर्वत्र लवराम्' (१ २) से र् का लोप होने पर 'अः समृद्ध्यादिषु वा' (१ २) से विकल्प से प को आ होने पर 'प्रत्यादौ डः' (हेमचन्द्र के इस सूत्र द्वारा) अथवा 'प्रतिसर वेतस पताकासु डः' (२ २) इस सूत्र से त को ड होने पर 'पोवः' (२ १५) से प को व होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से द् का लोप होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२७० पडिवद्दी—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रतिपत्ति' है जिसका अर्थ ज्ञान अथवा विश्वास है। सर्वप्रथम प्र के र का 'सर्वत्र लवराम्' (१ १) से लोप होने पर 'प्रतिसर वेतस पताकासु डः' (२-८) से प्रति के त को ड होने पर 'पोवः' (२ १५) से प को व होने पर 'उपरि लोपः कगडतदपषसाम्' (१ १) से 'त्ति' के एक त का लोप होने पर 'ऋत्वादिषु तो दः' (२ ७) से त को द होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (१ ५) से द को द्वित्व होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' से दीर्घ होने पर यह रूप बनता है।

२७१ पडिसरो—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रतिसरः' है जिसका अर्थ सेना का पिछला भाग अथवा हाथ की माला होता है। 'प्रतिसर वेतस पताकासु डः' (२-८) से त को ड होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२७२ पडिसिद्धी पाडिसिद्धी—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रतिसिद्धि' (निषेध) अथवा प्रतिस्पर्धिन् (प्रतिद्वन्द्वी) है। सर्वप्रथम 'सर्वत्र लवराम्' (१ १) से प्र के र का लोप होने पर 'प्रतिसर वेतस पताकासु डः' (२ २) से त को ड होने पर तथा 'अतः समृद्ध्यादिषु वा' (१ २) से प को विकल्प से आ होने पर प्रतिसिद्ध के ष को 'शषोः सः' (२ ४३) से स होने पर 'उपरि लोपः कगडतदपषसाम्' (१ १) से द् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (१ ५) से ध को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (१ ५१) से पूर्व ध को द् होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घ

(१ १२) से दीर्घ होने पर ये रूप बनते हैं। 'प्रतिस्पर्द्धि' में 'स्थि' (३ १७) से स्प को छि होने पर पूर्ववत् रूप बनते हैं इस पक्ष में "स्पयोः सः" (२ ३१) यह सूत्र नहीं लगता।

२७३ पम्हो—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रश्न' है। 'सर्वत्र लवरान्' (३ ३) से प्र के र् का लोप होने पर 'ह्न स्नष्ण क्ष्ण्ह्मां ह्ण' (३ ३३) इस सूत्र से श्न को 'म्ह' होने पर अत ओत् सोः (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२७४ पण्हुव—

इसकी प्रकृति 'प्रस्तुतम्' है। 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर 'ह्न स्न ष्ण क्ष्णां ह्णः (३ ३३) से स्न को भी ण्ह होने से 'यमनादा बहु लोप्त्व यमोर्वभौ' (१२ ३) से त को व होने पर 'सो बिन्दु र्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२७५ पत्थरो, पत्थारो—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रस्तर' है। सर्वप्रथम 'सर्वत्रलवरा' (३ ३) से र् का लोप होने पर अदातो यथा दिवचा' (१ १) से विकल्प से आ होने पर 'स्तस्य थः' (३ १२) से स्त को थ होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३ ५) से थ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्व (३-५१) से पूर्व थ को त होने पर अत ओत् सोः (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२७६ पम्हो—

इसकी मूल प्रकृति 'पक्ष्मन्' है जिसका अर्थ नेत्र के पलकों के बाल है। 'ष्म पक्ष्म विस्मयेषुम्ह' (३ ३२) से क्ष्म को 'म्ह' होने पर 'अन्त्यहल (४ ६) से न् का लोप होने पर अत ओत् सो (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२७७ परहुमा—

इसकी मूल प्रकृति 'परभृतः' है जिसका अर्थ कोयल है। 'उदत्वादिष' (१ ९) इस सूत्र से भ् के ऋ को उ होने पर 'ख घ थ ध भां हः (२ २७) से भ को ह होने पर क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ २) से त का लोप होने पर 'अत ओत् सोः (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२७८ पर्सणो—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रसन्न' है जिसका अर्थ उतावला है। सर्वप्रथम 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से प्र के र् का लोप होने पर 'यमि तद्वर्णान्तः

२८४ पहो—

इसकी मूल प्रकृति 'पथिन्' है सर्वप्रथम 'अन्त्य हल:' (४ ६) से अन्तिम न् का लोप होने पर 'इत् पथि हरिद्रा पृथिवीषु' (१ १३) से इ को अ होने पर 'खघ थ ध भां हः' (२ २७) से थ को ह होने पर 'अत ओत् सो:' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२८५ पावडणं, पाअवडण—

इसकी मूल प्रकृति 'पाद पतनम्' है जिसका अर्थ पैरों पर गिरना है। पाद+पतनम् इस रूप मे सर्वप्रथम 'पोवः' (२ १५) इस सूत्र से पाद के प को व होने पर 'कग च ज तद पयवां प्रायो लोपः' (२ २) इस सूत्र से द् का लोप होने पर 'सन्धाव चाम् अच् लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) से अ का लोप होने पर 'वा' रह जाता है। पतनम् के प को 'पोवः' (२ १५) से व होने पर 'पत् ड्' यस्मीड (२ ११) से त को ड हो गया और 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न को ण होने पर 'सोर्बिन्दुर्न पुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर 'पावडणं' यह रूप बनता है। जिस पक्ष में अ का लोप नहीं होता है वहां 'पाअवडणं' यह रूप बनता है।

२८६ पाउसो—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रावृषः' है जिसका अर्थ वर्षा है। सर्वप्रथम 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) इस सूत्र से 'प्रा' के र तथा 'वृ' के 'व्' का लोप होने पर 'उदृत्वादिषु' (१ २९) से ऋ को उ होने पर 'षिक प्रावृषो' स' (४ ११) से ष को स् होने पर 'प्रावृट्शरद पुंसि' (४ १२) से इस को पुल्लिंग होने पर 'अत ओत् सो:' (५ १) से 'ओ' होने पर यह रूप बनता है।

२८७ पाणाइत्तो—

इसकी मूल प्रकृति 'प्राणवत्' है। सर्वप्रथम 'सर्वत्रलवराम' (३ ३) से र का लोप होने पर 'सन्धाव चा मच् लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) से अच् कार्य (दीर्घ होने पर) 'आल्विल्लोल्लाल वन्तेन्ता मतुप' (४-२५) से वत् के स्थान पर 'इत्त' होने पर 'अत ओत् सो:' (५ १) से 'ओ' होने पर यह रूप बनता है।

२८८ पाणिअं—

इसकी मूल प्रकृति 'पानीयम्' है जिसका अर्थ पीने के योग्य होता है। सर्व प्रथम 'इदीतः पानीयादिषु' (१ १२) इस सूत्र से ई को इ होने पर 'नोणः सर्वत्र (२ ४२) से न को ण् होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायो लोप' (२ २) से य् का लोप होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु ( ) होने पर यह रूप बनता है।

से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५०) से ष् को द्वित्व होने पर तथा 'अत ओत् सो' (५ १) से ओ होने पर पुत्तो रूप बनता है।

२६४ पुप्फं—

इसकी मूल प्रकृति 'पुष्पम्' है। सर्वप्रथम 'ष्पस्य फ' (३ ३५) से ष्प को फ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५) से फ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुज पूर्व' (३ ५१) से पूर्व के फ को प् होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२६५. पुरिल्लं—

संस्कृत में 'पौरस्त्य' का जो अर्थ होता है वही अर्थ प्राकृत भाषाओं में 'पुरिल्लं' का होता है। पुरोभवं=पुरिल्लं। इसमें पुरस् शब्द है। 'अन्त्यहल' (४ ६) से स् का लोप होने पर आल्विल्लोल्लालवन्तेन्तामतुपः (४ २५) से 'इल्ल' आदेश होने पर तथा 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२६६ पुव्वण्हो—

इसकी मूल प्रकृति 'पूर्वाह्न' है। इसका अर्थ दिन का पूर्व भाग है। सर्वप्रथम 'सन्धा वजा म ज् लोप विशेषाः बहुलम्' (४ १) से पू को पु होकर 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर तथा 'ह्न ह्ण होन मनमा स्थितिं वर्णम्' (३-८) से न् की स्थिति ह से पूर्व ऊपर हो करके 'नोण सर्वत्र' (२ ४२) से न् को ण् होने पर 'ह्रस्व संयोगे' (हेमचन्द्र) से वा को व होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५) से व को द्वित्व होने पर यह रूप बनता है।

२६७ पुहवी—

इसकी मूल प्रकृति 'पृथिवी' है। सर्वप्रथम 'उदृत्वादिषु' (१ २९) से पृ को पु होने पर 'इत् पथि हरिद्रा पृथिवीषु (१ १३) से थि की इ को अ होने पर खघथधभां हः (२ २७) से थ को ह होने पर यह रूप बनता है।

२६८ पेट्ठं, पिट्ठं—

इसकी मूल प्रकृति 'पिष्टम्' है। सर्वप्रथम 'इत् एत् पिण्ड समेषु' (१ १२) से पि को पे होने पर 'ष्टस्यठ (३ १) से ष्ट को ठ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ (३ ५) से ठ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युज पूर्व' (३ ५१) से पूर्व ठ् को ट होने पर सोर्बिन्दुर्नपुंसके (५ ३) से बिन्दु होने पर पेट्ठं रूप बनता है पर जिस पक्ष मे 'ए' नहीं होता वहां पिट्ठं रूप बनता है।

१०६ फंदण—

इसकी मूल प्रकृति स्पन्दनम् है जिसका अर्थ 'कुछ कुछ चलना' है। सर्व प्रथम 'स्पस्य सर्वत्र स्थितस्य' (३ ३५) से स्प को फ होने पर 'नो णः सर्वत्र' (२ ४२) से न् को ण होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

१०७ फरिसो—

इसकी मूल प्रकृति 'स्पर्शः' है। सर्वप्रथम 'इ श्री ह्री क्रीत क्लान्त क्लेश म्लान स्वप्न स्पर्श हर्षार्ह गर्हेषु' (३ ६२) से युक्त वर्ण का विप्रकर्ष (स्वरभक्ति) होने पर तथा इ होने पर 'स्परिश' यह रूप होता है तब 'स्पस्य फः' (३ ३५) से स्प को फ होने पर शषोः सः (२ ४३) से श को स होने पर अत ओत् सोः (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

१०८ फलिअं—

संस्कृत में पट गतौ इस धातु से पटितम् यह रूप बनता है जिसका अर्थ चलना है। प्राकृत भाषा में उसका रूप 'फलिअं' बनता है। सर्वप्रथम पटेः फलः (८ ९) से पट के स्थान पर फल होने पर 'इत्' (७ ३२) से इ होने पर कगचजतदपयवां प्रायो लोपः (२ २) से त् का लोप होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके (५ ३) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

१०९ फलिहा—

इसकी मूल प्रकृति परिखा' है जिसका अर्थ परकोटा है। सर्वप्रथम 'हरिद्रादीनां रो लः' (२ ३०) से र को ल होने पर 'परुष परिघ परिखासु फः' (२ ३६) से प को फ होने पर 'खघथधभां हः' (२ २७) से ख को ह होने पर 'फलिहा' सिद्ध होता है।

११० फरुसो—

इसकी मूल प्रकृति 'परुष' है जिसका अर्थ कठोर है। सर्वप्रथम 'परुष परिघ परिखासु फः' (२ ३६) से प को फ होने पर शषोः सः' (२ ४३) से ष् को स् होने पर अत ओत् सोः (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

१११ फलिहो—

इसकी मूल प्रकृति 'परिघ' है जिसका अर्थ एक विशेष अस्त्र है। सर्व प्रथम 'परुष परिघ परिखासु फः' (२ ३६) से प को फ होने पर 'हरिद्रादीनां रो लः' (२ ३०) से र को ल होने पर 'खघथधभां हः' (२ २७) से घ को ह होने पर अत ओत् सोः (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

११२ फलिहो—

यह रूप 'स्फटिक' का भी बनता है जिसका अर्थ फिटकरी है। सर्वप्रथम 'उपरिलोपः कगडतदपषसाम्' (३-१) से स् का लोप होने पर 'स्फटिकेल' (२ २२) से ट को ल होने पर 'स्फटिक निकषचिकुरेषु कस्य हः' (२ ४) से क को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

११३ भमप्फई—

इसकी मूल प्रकृति 'बृहस्पति' है। सर्वप्रथम 'बृहस्पतौ बहोर्भः को' (४ १) से 'ब' तथा 'ह' को क्रमशः भ व होने पर 'ऋतोऽत्' (१ २७) इस सूत्र से ऋ को अ होने पर 'ष्पस्पयोः फः' (३ ३५) से स्प को फ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५०) से फ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) से पूर्व फ को प् होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से त का लोप होने पर 'सुभिसुप्सु दीर्घः' (५ १८) से दीर्घ होने पर 'भमप्फई' यह रूप सिद्ध होता है।

११४ भइरवो—

इसकी मूल प्रकृति 'भैरव' है जिसका अर्थ भयानक है। सर्वप्रथम 'दैत्यादिष्वइ' (१ ३६) से ऐ को अ इ होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर 'भइरवो' यह रूप बनता है।

११५. भत्तं—

इसकी मूल प्रकृति 'भक्तम्' है। सर्व प्रथम 'उपरि लोपः कगडतदपषसाम्' (३ १) से क का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३ ५०) से त् को द्वित्व होने पर 'मोऽनुस्वारः' (४ १२) से बिन्दु ( ) होने पर 'भत्तं' बनता है।

११६ भत्तारो—

संस्कृत मे भर्तृ से 'भर्ता' रूप बनता है जिसका अर्थ स्वामी या पालक होता है वही भर्ता का प्राकृत में 'भत्तारो' प्रयोग होता है। 'ऋतआरः सुपि' (५ ३१) से आर् होने पर 'सर्वत्रलवराम्' से (३ ३) से र् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है। इसमें 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३ ५०) से त् को द्वित्व भी होता है।

११७ भद्दं—

इसकी मूल प्रकृति 'भद्रम्' है। सर्वप्रथम 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५०) से द् को द्वित्व होने पर 'मोबिन्दुः' (४ १२) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३१८ भमिरो—

संस्कृत में शील या स्वभाव अर्थ में तृ न् प्रत्यय लगता है उसी अर्थ में 'भ्रमणशील' संस्कृत में प्रयुक्त होता है पर प्राकृत भाषा में घुमक्कड़ या घूमनेवाले को 'भमिरो' कहते हैं। इसमें 'तृन इर शीले' (४ २४) से इर हो जाता है और 'अत ओत् सो' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है। कुछ लोगों के मत में 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर 'भमिरो' रूप भी बनता है।

३१९ भरणिज्जं भरणीअं—

इसकी मूल प्रकृति 'भरणीयम्' है जिसका अर्थ भरण पोषण करने योग्य होता है। इसमें 'उत्तरीयानीययो र्जो वा' (२ १७) से य के स्थान पर विकल्प से ज्ज होता है। जिस पक्ष में ज्ज होता है वहां ह्रस्वः संयोगे (हेमचन्द्र) के अनुसार ई का इ हो जाता है और 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर 'भरणिज्जं' रूप बनता है पर जिस पक्ष में ज्ज नहीं होता वहां 'कगचज तदपयवां प्रायोलोपः' (२ २) से य का लोप होने पर 'भरणीअं' रूप बनता है।

३२० भरहो—

इसकी मूल प्रकृति 'भरत' है। 'ऋतसिमरतयोर्हः' (२ ९) इस सूत्र से त को ह होने पर 'अत ओत् सो' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

३२१ भाण भाअणं—

इसकी मूल प्रकृति 'भाजनम्' है जिसका अर्थ पात्र है। भाणं में 'भाजनेजस्य' (४ ४) से स्वर सहित ज का लोप होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न् को ण् होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर 'भाणं' बनता है। जिस पक्ष में ज का स्वर सहित उपर्युक्त सूत्र से लोप नहीं होता वहां 'कगचजतदपयवां प्रायोलोपः' (२ २) इस सूत्र से ज् का लोप होने पर शेष कार्य पूर्ववत् होने पर 'भाअणं' यह रूप होता है।

३२२ भाआ, भाअरो—

ये दोनों रूप 'भ्राता' से बनते हैं। मूल शब्द भ्रातृ है। 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से भ्रा के र् का लोप होने पर 'आ च सौ' (५ ३५) से ऋ को आ होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायोलोपः' (२) से त् का लोप होने पर 'भाआ' यह रूप बनता है। 'आ च सौ' (५ ३५) इस सूत्र से आ भी होता

है और बर भी होता है। 'भारिओ' में और सब काम पूर्ववत् होने पर 'अत ओत् सो' (५ १) से ओ होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

१२३ भारिआ—

इसकी मूल प्रकृति 'भार्या' है जिसका अर्थ स्त्री है। 'र्यस्यारिअ' (१ -८) इस सूत्र से र्य को रिअ होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से य् का लोप होने पर यह प्रयोग बनता है।

१२४ भिंगारो—

इसकी मूल प्रकृति 'भृङ्गार' है जिसका अर्थ 'सोने का बरतन' है। 'ऋ इत्यादिषु' (१ १८) इस सूत्र से 'भृ' को 'भि' होने पर 'यथि तद्वर्गान्त' (४ १७) से वर्गान्त बिन्दु होने पर 'अत ओत् सो' (५) से 'ओ' होने पर यह रूप बनता है।

१२५. भिंगो—

इसकी मूल प्रकृति 'भृङ्ग' है जिसका अर्थ 'भौंरा' है। 'ऋ इत्यादिषु' (१ २) इस सूत्र से 'भ' के ऋ को इ होने पर 'यथि तद्वर्गान्तः' (४ १७) इस सूत्र से बिन्दु होने पर 'अत ओत् सो' (५ १) से 'ओ' होने पर यह रूप बनता है।

१२६ भिण्डिवालो—

इसकी मूल प्रकृति 'भिन्दिपालः' है जिसका अर्थ पत्थर का बना अस्त्र विशेष है सर्वप्रथम 'भिन्दिपालेण्डः' (१ ४६) से 'न्द' के स्थान पर 'ण्ड' होने पर 'पो वः' (२ १५) से प को व् होने पर 'अत ओत् सो' (५ १) से 'ओ' होने पर यह रूप बनता है।

१२७ भिब्भलो विहलो भिब्भलो—

इस की मूल प्रकृति 'विह्वल' है जिसका अर्थ व्याकुल है। सर्वप्रथम 'विह्वले भ हो वा' (३-४७) से 'ह्व' को विकल्प से भ तथा ह होते हैं। जिस पक्ष में भ हुआ वहाँ भ को 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५०) से द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) से भ को ब होने पर 'अत ओत् सो' (५ १) से ओ होने पर 'भिब्भलो' यह रूप बनता है पर जिस पक्ष में ह होता है वहाँ 'विहलो' बनता है। 'नहो' (३ ५४) से ह को द्वित्व नहीं होता। हेमचन्द्र के अनुसार 'भिम्भलो' भी रूप बनता है। 'वा विह्वले वौ वश्च' (हेमचन्द्र) इस सूत्र से ह्व को विकल्प से भ होता है और जहाँ भ होता है वहाँ प्रथम व को भी भ हो जाता है।

३२८ मिसिणी—

इसकी मूल प्रकृति 'बिसिनी' है। सर्वप्रथम 'बिसिन्यां भः' (२ १८) इस सूत्र से ब को भ होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न को ण होने पर यह रूप बनता है। इसका अर्थ कमलिनी है।

३२९ मुत्तं—

इसकी मूल प्रकृति 'मुक्तम्' है जिसका अर्थ छोड़ दिया है। सर्वप्रथम 'उपरिलोपः क ग ड त द प ष सपाम्' (३ १) से क् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५०) से त् को द्वित्व होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३०) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३३० मअं—

इसकी मूल प्रकृति 'मृतम्' है। 'ऋतोऽत्' (१ २७) से मृ को म होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ २) से त् का लोप होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३०) से बिन्दु ( ) होने पर यह प्रयोग बनता है।

३३१ मइलं मलिणं—

इसकी मूल प्रकृति 'मलिन' है। सर्वप्रथम 'मलिनेलिनोरिलौ वा' (४ ११) से लि को इ तथा न को ल होते हैं पर विकल्प से होते हैं। जिस पक्ष में ये दोनों आदेश हो जाते हैं वहाँ 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३०) से बिन्दु होने पर 'मइलं' रूप बनता है और जिस पक्ष में ये दोनों आदेश नहीं होते वहाँ 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न को ण होने पर पूर्ववत् बिन्दु होने पर 'मलिणं' यह रूप बनता है।

३३२ मउडं—

इसकी मूल प्रकृति 'मुकुटम्' है। 'अमुकुटादिषु' (१-२२) से मु को म होकर 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ २) से क् का लोप होने पर 'टो डः' (२ २०) से ट् को ड होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३०) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३३३ मउलं—

इसकी मूल प्रकृति 'मुकुलं' है जिसका अर्थ कली है। सर्वप्रथम 'अमुकुटादिषु' (१ २२) से मु को म होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ २) से क का लोप होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३०) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३३४ मोरो, मऊरो—

इसकी मूल प्रकृति 'मयूर' है। सर्वप्रथम 'मयूर मयूखयोर्य्वा वा' (१-८) से मयूर के यू के साथ य को विकल्प से ओ होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर 'मोरो' रूप बनता है। जिस पक्ष में ओ नहीं होता वहाँ 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ २) से य् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर 'मऊरो' यह रूप सिद्ध होता है।

३३५ मोहो मऊहो—

इसकी मूल प्रकृति 'मयूख' है जिसका अर्थ किरण है। सर्वप्रथम 'मयूर मयूखयोर्य्वा वा' (१-८) से यू के साथ य के अ को ओ होने पर 'खघथधभां हः' (२ २७) से ख को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर मोहो रूप बनता है। जिस पक्ष में ओ नहीं होता वहां 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ २) से य का लोप होने पर शेष कार्य पूर्ववत् होने पर यह रूप बनता है।

३३६ मओ—

इसकी मूल प्रकृति 'मद' है। सर्वप्रथम 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ २) से द का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

३३७ मंसं मासं—

इसकी मूल प्रकृति 'मांसम्' है। मांसादिषु वा (४ १६) से विकल्प से बिन्दु होने पर 'सन्धाव चामज् लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) से लोप न विकल्प से होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

३३८ मंसू—

इसकी मूल प्रकृति 'श्मश्रु' है जिसका अर्थ 'दाढ़ी' है। सर्वप्रथम 'श्मश्रु श्मशानयोरादेः' (३ ६) से श् का लोप होने पर 'शषोः सः' (२ ४३) से ष् को स होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर 'वक्रादिषु' (४ १५) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३३९ मग्गो—

इसकी मूल प्रकृति 'मार्ग' है जिसका अर्थ रास्ता है। सर्वप्रथम 'सन्धाव-चामज् लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) से मा को म होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५) से ग को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

१४० मच्छिआ—

इसकी मूल प्रकृति 'मक्षिका' है। सर्वप्रथम क्ष्मादिपुक्षः (१ १) से क्ष को छ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (१ ५) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (१ ५१) से पूर्व छ को च् होने पर कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से क का लोप होने पर यह रूप बनता है।

१४१ मज्झण्णो—

इसकी मूल प्रकृति 'मध्याह्न' है जिसका अर्थ दोपहर है सर्वप्रथम 'मध्याह्ने ह्रस्वं' (१-७) से ह का लोप होने पर 'ध्यह्योर्झः' (१ २८) से ध्य को झ होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (१ ५) से झ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (१ ५१) से पूर्व झ का ज् होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न् को ण होने पर शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (१ ५) से ण को द्वित्व होने पर अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

१४२ मज्झं—

इसकी मूल प्रकृति मध्यम्' है जिसका अर्थ बीच' होता है। सर्वप्रथम 'ध्यह्योर्झः (१ २८) से ध्य को झ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (१ ५) से झ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः (१ ५१) पूर्व झ को ज् होने पर *सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।*

१४३ मअं—

इसकी मूल प्रकृति 'मृतम्' है। सर्वप्रथम मृ के ऋ को 'ऋतोऽत्' (१ २७) से 'अ' होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः (२ २) से त् का लोप होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

१४४ मढ—

इसकी मूल प्रकृति मठः है। 'ठोढः' (२ २४) से ठ को ढ होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके (५ १) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

१४५. मणसिणी माणंसिणी—

इनकी प्रकृति 'मनस्विनी' है। नोणः सर्वत्र (२ ४२) से दोनों 'न' को ण होने पर 'सर्वत्रलवराम् (१ १) से व का लोप होने पर 'वक्रादिषु' (४ १५) से बिन्दु ( ) होने पर आ समृद्ध्यादिषु (१ २) से विकल्प से आ' होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

३६३ मुग्गरो—

इसकी मूल प्रकृति 'मुद्गर' है। सर्व प्रथम 'उपरि लोप क ग ड त द प ष साम्' (२ १) से द् का लोप हो होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (१ ५) से ग् को द्वित्व होने पर अत ओत् सोः (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

३६४ मुच्छा—

इसकी मूल प्रकृति 'मूर्छा' है। सर्वत्र लवराम्' (६ १) से र का लोप पर 'सन्ध्यावच्चामद् लोपविशेषा बहुलम् (४ १) से 'मू'को ह्रस्व होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ (१०-५०) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गयुज' पूर्व' (३-५१) से पूर्व छ को च् होने पर यह रूप बनता है।

३६५ मुञ्जाअणो—

इसकी मूल प्रकृति 'मौञ्जायन' है। सर्वप्रथम 'उत्सौन्दर्यादिषु' (१ ४४) से औ को उ होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोप' (२ २) से य् का लोप होने पर 'नोण सर्वत्र (२ ४२) से न् को ण होने पर अत ओत् सो' (५ १) से 'ओ होकर यह रूप बना है।

३६६ मुणालो—

इसकी मूल प्रकृति 'मृणाल' है। सर्व प्रथम 'उदृत्वादिषु' (१ २९) से मृ को मु होने पर 'नोण सर्वत्र' (२ ४२) से न् को ण होने पर 'अत ओत् सोः (५ १) से ओ हो जाने पर यह रूप बनता है।

३६७ मुत्ती—

इसकी मूल प्रकृति 'मूर्ति' है। सर्व प्रथम सर्वत्र लवराम्' (१) से र् का लोप होने पर 'सन्ध्यावच्चामद् लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) से ऊ को उ होने पर 'मुति' ऐसा रूप बना तब 'सुभिस्सुप्सु दीर्घ (५ १२) से दीर्घ होने पर यह रूप बनता है।

३६८ मुद्धो—

इसकी मूल प्रकृति 'मुग्ध' है। सर्व प्रथम उपरि लोप क ग ड त द प ष सास्' (१ १) से ग् का लोप होने पर शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (१ ५) से ध् को द्वित्व होने पर 'वर्गयुज पूव' (१ ५१) से पूर्व ध् को द् होने पर अत ओत् सोः (५ १) से ओ होकर यह रूप बनता है।

२६९ मुहं—

इसकी मूल प्रकृति 'मुखम्' है। 'खघथधभां हः' (२ २७) से ख को ह होने पर 'सोबिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२७० मुहलो—

इसकी मूल प्रकृति 'मुखरः' है जिसका अर्थ वाचाल या बहुत बोलने वाला है। सर्व प्रथम 'खघथधभां हः' (२-२७) से ख को ह होने पर 'हरिद्रादीनां रो लः' (२ ३) से र को ल होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२७१ मुहुत्तं—

इसकी मूल प्रकृति 'मुहूर्तम्' है। 'तस्य त्वयोर्वर्तयोः' (४ २२) से र्त के स्थान पर त्त होने पर 'सोबिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर 'मुहुत्तं' यह बनता है। हेमचन्द्र के अनुसार अपभ्रंश में 'मुहुत्तउं' यह बनता है क्योंकि 'स्यमोरस्योत्' इस सूत्र से स्यमोः यह आदेश होता है।

२७२ मूढदा—

इसकी मूल प्रकृति 'मूढता' है। मूढता में भी तल् प्रत्यय है प्राकृत में 'तल्त्वयोर्दात्तणौ' (४-२२) से तल् के स्थान पर दा हो जाने पर यह रूप बनता है।

२७३ मेहला—

इसकी मूल प्रकृति 'मेखला' है जिसका अर्थ करधनी या मौंजी है। 'खघथधभां हः' (२ २) में ख को ह होने पर यह रूप बनता है।

२७४ मेहो मेखो—

इसकी मूल प्रकृति मेघ है। प्राकृत भाषाओं में पैशाची को छोड़कर इसका रूप मेहो बनता है। 'खघथधभां हः' (२-२७) से घ को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होता है। पर पैशाची में मेखो बनता है। यहां 'वर्गाणां तृतीयचतुर्थयोरयुजोरनाद्योराद्यौ' (१०-३) से वर्गों के तीसरे और चौथे के स्थान पर पहले तथा दूसरे वर्ण होते हैं अतः चौथे घ के स्थान पर दूसरा ख होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बना।

२७५. मोत्ता—

इसकी मूल प्रकृति 'मुक्ता' है। 'उत ओत् तुण्डरूपेषु' (१ २०) से मु के उ को ओ होने पर मो बना तब 'उपरि लोपः कगडतदपषसाम्' (३ १) से

३८६ राआ—

इसकी प्रकृति 'राजन्' है। 'राज्ञश्च' (५ ३६) से 'अन्' के स्थान पर आ होने पर यह रूप बनता है।

३८७ राआणो—

राजन् शब्द से प्रथमा के बहुवचन में जस् प्रत्यय में यह रूप बनता है। राजन्+जस् इस अवस्था में जस् के स्थान पर 'जश्शसोर्णो' (५ १८) से णो होने पर अन्त्यहल (४ ६) से न् का लोप होने पर कगचजतदपयवां प्रायो लोपः (२ २) से ज् का लोप होने पर आ को 'अमोरडति' (५ ४४) से आ होने पर राआणो यह रूप बनता है।

३८८ राचिना, रञ्ञा—

पैशाची प्राकृत में राजन् शब्द की तृतीया के एक वचन में टा प्रत्यय के परे ये दो रूप बनते हैं। राजन्+टा इस अवस्था में 'राज्ञोराचिटाङसिङस्सुवा' (१ १२) से 'राचि' विकल्प से होने पर 'टाणा' (५ ४१) से टा को णा होने पर 'णोनः' (१ ५) से ण को न होने पर अन्त्यहल (४ ६) से न् का लोप होने पर राचिना प्रयोग बनता है। जिस पक्ष में राचि नहीं होता वहाँ 'राज्ञा' इस प्रयोग में 'ज्ञस्यञ्ञः' (१ ९) से ञ्ञ होने पर 'ह्रस्वः संयोगे' (हेमचन्द्र) से ह्रस्व होने पर 'रञ्ञा' रूप बनता है।

३८९ रासहो—

इसकी मूल प्रकृति 'रासभ' है जिसका अर्थ 'गधा' है। 'खघथधभां हः' (२ २७) से भ को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

३९० राहा—

यह शब्द 'राधा' से बना है इसमें भी 'खघथधभां हः' (२ २७) से ध को ह होने पर 'राहा' बनता है।

३९१ रिणं—

यह प्रयोग 'ऋणम्' से बना है। 'ऋरीति' (१ ३) से ऋ को रि होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३९२ रिद्धो—

इसकी मूल प्रकृति 'ऋद्धः' है जिसका अर्थ धन सम्पन्न है। इसमें भी 'ऋतोरिः' (१ ३०) से ऋ को रि होने पर 'उपरि लोपः कगडतदपषसाम्' (३ १) से द् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से ध को

३९९ लच्छी—

इसकी मूल प्रकृति 'लक्ष्मी' है। 'अक्ष्यादिषु च्छः' (३ ३) से क्ष् के स्थान पर छ होने पर 'अधोमनयाम्' (३ २) से म् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५ से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व छ को च् होने पर यह प्रयोग बनता है।

४०० लट्ठी—

इसकी मूल प्रकृति 'यष्टिः' है जिसका अर्थ लाठी है। 'यष्ट्यां लः' (२ ३२) से य को ल होने पर 'ष्टस्य ठः' (३ १) से 'ष्ट' के स्थान पर ठ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से ठ को द्वित्व हुआ और 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व ठ को द् होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५ १८) से दीर्घ होने पर लट्ठी प्रयोग बनता है।

४०१ लस्करो—

इसकी मूल प्रकृति 'राक्षस' है। 'क्षस्य स्कः' (११-८) से क्ष के स्थान पर स्क होता है और 'रसोर्लशौ' (हेमचन्द्र) के अनुसार र का ल हो जाता है। 'ह्रस्वः संयोगे' (हेमचन्द्र) से रा को ह्रस्व भी होता है। 'षसोः सः' (११ ३) से ष को स होने पर 'अत इदेतौ लुक् च' (११ १) से ए होने पर लस्करे प्रयोग बनता है।

४०२ लहुई—

इसकी मूल प्रकृति 'लघ्वी' है जिसका अर्थ छोटी है। सर्वप्रथम 'उत्पद्मतन्वी समेषु' (३ ६५) से संयुक्त व् को विप्रकर्ष (स्वरभक्ति) होकर उ भी इसी सूत्र से होता है। 'खघथधभां हः' (२ २७) से घ का ह होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ २) से व् का लोप होने पर 'लहुई' यह प्रयोग बना है।

४०३ लाआ—

हेमचन्द्र के अनुसार राजा का रूप लाआ बनता है। इसमें 'रसोर्लशौ' (हेमचन्द्र) से र को ल होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः (२ २) से ज का लोप होने पर 'लाआ' बनता है।

४०४ लिच्छा—

इसकी मूल प्रकृति 'लिप्सा' है जिसका अर्थ चाह या अभिलाषा है। सर्व प्रथम 'ध्वत्सप्सां छः' (३ ४) से प्स को छ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व

४१२ वइसाहो—

इसकी मूल प्रकृति 'वैशाख' है। सर्वप्रथम 'वैत्यादिष्वइ' (१ ११) से ऐ को अइ होने पर 'शषोः सः' (२ ४३) से श को स होने पर 'खघथधभाम् हः' (२ २७) से ख को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५ ?) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४१३ वइसिओ—

इसकी मूल प्रकृति 'वैशिक' है जिसका अर्थ वेश धारण करने वाला है। 'वैत्यादिष्वइ' (१ ३६) से ए को अइ होने पर 'शषोः सः' (२ ४३) से श को स होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायोलोपः' (२ २) से क का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४१४ वइसपाइणो—

इसकी मूल प्रकृति वैशम्पायन है। सर्वप्रथम 'वैत्यादिष्वइ' (१ ११) से ऐ को अइ होने पर 'शषोः सः' (२४३) से श् को स होने पर 'यचितश्चर्गान्त' (४ १७) से शम् के म् को बिन्दु होने पर 'क ग च ज त द प यवां प्रायोलोपः' (१ २) से य् का लोप होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न को ण होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४१५. वक्कलं—

इसकी मूल प्रकृति 'वल्कलम्' है जिसका अर्थ छाल है। 'सर्वत्रलवराम्' (१ १) से ल का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (१ ५) से क को द्वित्व होने पर यह रूप बनता है।

४१६ विक्कवो—

इसकी मूल प्रकृति विक्लव है। 'सर्वत्रलवराम्' (१ १) से ल का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (५) से क को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सो' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४१७ वग्गी—

इसकी मूल प्रकृति 'वाग्मी' है जिसका अर्थ विद्वान् या बोलने में चतुर है। सर्वप्रथम 'अधोमनयाम्' (१ २) से म् का लोप होने पर 'सन्ध्यावचामज्लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) से वा के आ को अ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (१ ५) से ग् को द्वित्व होने पर यह रूप बनता है।

४१८ वंकं—

इसकी मूल प्रकृति 'वक्रम्' है जिसका अर्थ टेढ़ा है। सर्वप्रथम 'सर्वत्र लवराम्' (१ १) से र का लोप होने पर 'वक्रादिषु' (४ १५) से व के ऊपर

४२४ वणणीअं, वम्मणीअं—

इसकी मूल प्रकृति 'वम्मनीयम्' है। 'मनोर्हविं' (४ १४) से म्न के स्थान पर विकल्प से बिन्दु ( ) होता है और म् भी होता है। वणंमीअं में म्न को बिन्दु होने पर नोणः सर्वत्र (२ ४२) से न् को ण होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायोलोपः (२ २) से य् का लोप होने पर 'शोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर वणणीअं रूप बनता है पर जिस पक्ष मे बिन्दु नहीं होता वहाँ म् होने पर 'वम्मणीअं' यह रूप बनता है

४२५ वलही—

इसकी मूल प्रकृति 'वलभी' है जिसका अर्थ 'छत को छाने के लिए जो टेढ़ी लकड़ियां डाली जाती हैं उनको वलभी या गोपानसी कहते हैं। सर्व प्रथम 'डस्यल' (२ २१) से ड को ल होने पर 'खघथधभां हः' (२ २७) से भ को ह होने पर यह प्रयोग बनता है।

४२६ वडिसं—

इसकी मूल प्रकृति 'वडिशं' है जिसका अर्थ एक प्रकार का कांटा है। 'शषो सः'(२ ४३) से श् को स् होने पर 'शोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

४२७ वणं—

यह शब्द वनम्' से बना है। 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न् को ण होने पर 'मो बिन्दुः (४ १२) से बिन्दु ( ) होने पर यह रूप बना है।

४२८ वण्णो—

इसकी मूल प्रकृति 'वर्ण' है। सर्वत्रलवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर 'वक्रादिषु' (४ १५) से बिन्दु होने पर "शेषादेशयो द्वित्व मनादौ ३-५) से ण् को द्वित्व होने पर 'अतओत् सो' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४२९ वण्ही—

इसकी मूल प्रकृति 'वह्नि' है। इसका अर्थ आग है। सर्वप्रथम 'ह्नस्नष्ण क्ष्णक्ष्मां ण्हः (३ ३३) से ह्न को ण्ह होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५ १२) से दीर्घ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४३० वत्तमाण—

इसकी मूल प्रकृति 'वर्तमानम्' है। 'सर्वत्र लवराम् (३ ३) से र् का लोप होने पर नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न् को ण होने पर शोर्बिन्दुर्नपुंसके

बिन्दु होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु ( ) होने पर यह प्रयोग बना है।

४१९ वच्छा—

संस्कृत में वृक्ष शब्द का कर्ताकारक बहुवचन में (वृक्ष+जस्) से वृक्षा रूप बनता है। प्राकृत में उसी का वच्छा रूप होता है। सर्वप्रथम 'ऋतोऽत्' (१ २७) से ऋ को अ होने पर व हुआ तब 'क्षमावृक्ष क्षणेषु वा' (३ ३१) से क्ष को विकल्प से छ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) से पूर्व छ को च् होने पर 'जस् शस् ङस्यम्सु दीर्घः' (५ ११) से व को दीर्घ होने पर वच्छा प्रयोग बना 'जस्शसो र्लोपः' (५-२) से जस् का लोप भी होता है।

४२० वच्छो—

इसकी मूल प्रकृति वृक्ष है। 'ऋतोऽत्' (१ २७) से ऋ को अ होने पर 'क्षमावृक्ष क्षणेषु वा' (३ ३१) से क्ष को छ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) से पूर्व छ को च होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ हो जाने पर यह रूप बनता है।

४२१ वच्छाणां—

संस्कृत के 'वृक्षाणाम्' से यह रूप बनता है यह षष्ठी का बहुवचन है। 'आमोर्णं' (५ ४) से म के स्थान पर ण होता है और 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होता है शेष कार्य (४ १९) के प्रयोग के अनुसार होते हैं।

४२२ वच्छरो—

इसकी मूल प्रकृति 'वत्सर' है जिसका अर्थ वर्ष या साल है। 'ध्वत्सप्सां छ' (३ ४) से 'त्स' के स्थान पर छ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) से पूर्व छ को च् होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ हो जाने पर यह प्रयोग बनता है।

४२३ वज्झओ—

इसकी मूल प्रकृति 'बाह्यक' है। 'ह्यो झः' (३ २८) से ह्य को झ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से झ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) से पूर्व झ को ज् होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से क का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होकर यह प्रयोग बना है।

ओ होने पर 'बाहो' रूप बनता है। इसमें 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (१ ५) से ह को द्वित्व प्राप्त था पर 'न र हो' (१ ५४) से नहीं होता। जहां पर बाष्प का अर्थ भाफ होता है वहाँ 'ष्पस्य फ' (३-३५) से ष्प को फ होने पर 'सर्व बवामबलोप विशेषा बहुलम्' (४ १) से बा को ब होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (१ ५) से फ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्व' (३-५१) से पूर्व फ् को प् होने पर अत ओत् सौ (४ १) से ओ होने पर 'बप्फो' प्रयोग बनता है।

४३६ बम्महो—

इसकी मूल प्रकृति मन्मथ' है जिसका अर्थ (का)मदेव है। सर्वप्रथम 'मान्मथे व' (२ ३९) से प्रथम म को व होने पर 'न्मो म' (३ ४३) से 'न्म' को म् होने पर शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ (१ ५) से म् को द्वित्व होने प 'खघथधभाम्ह' (२ २) से थ को ह होने पर अत ओत सो' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४३७ वम्मो—

इसकी मूल प्रकृति 'वर्मन्' है जिसका अर्थ रक्षा करने वाला है। सर्व प्रथम सर्वत्र लवराम् (३ ३) से र् का लोप होने पर शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (१ ५) से म को द्वित्व होने पर अन्त्य हल (४ ६) से न् का लोप होने पर मसान्त प्रा वृ ट् शरद पु सि (४ १८) से पुंल्लिंग होने पर 'अत ओत् सौ' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४३८ बम्हण्णो, बह्मण्णो—

इनकी मूल प्रकृति 'ब्रह्मण्य' है। सर्व प्रथम सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर 'ह्म ह्न ह्लेषु मलनां स्थितिरु र्ध्वम (३-८) से ह्म का रूप म्ह हो जाता है अर्थात् म् की स्थिति ह में पूर्व हो जाती है बम्ह' ऐसा रूप बनता है तब 'ब्रह्मण्य विज्ञयज्ञकन्यकानां ण्य ञ्ञाना ञ्जो वा (१२-७) से विकल्प से अर्थात् शौरसेनी में ञ्ञ होता है विकल्प से पर पैशाची में नित्य ही होता है। इस प्रकार ण्य का ञ्ञ होने पर अत ओत् सौः (५ १) से ओ होने पर 'बम्हञ्ञो' यह रूप बनता है पर जिस पक्ष में ञ्ञ नहीं होता वहां सब काम पूर्ववत् होने पर अर्थात् र् का लोप 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) से होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायोलोपः (२ २) से य् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (१ ५) से ण् को द्वित्व होने पर अत ओत् सौः' (५ १) से ओ होने पर बम्हण्णो' रूप बनता है।

ह्रस्व होने पर सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

४४६ बहू—

यह 'वधू' से बना है 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २७) से ध को ह होने पर यह प्रयोग बनता है। द्वितीया के बहु वचन में शस् प्रत्यय के लगने पर वधू+शस् ऐसा होने पर पूर्ववत् ध को ह होने पर 'जस्शसोर्लोपः' (५ ८) से शस् का लोप होने पर स्त्रियामोदोतौ (५ १९) से ओद् तथा ओद् होने पर 'बहुओ' तथा बहूओ रूप बनते हैं। द्वितीया के एक वचन में वधू+अम् होने पर पूर्ववत् ध को ह होने पर अमिह्रस्वः (५ २१) से ह्रस्व होने पर 'सन्ध्यावचामज्लोपविशेषाबहुलम् (४ १) से अम् के अ का लोप होने पर मो बिन्दुः' (४ १२) से म् को बिन्दु होने प 'बहुं' रूप बनता है। तृतीया के बहुवचन में वधू + भिस् में वधू का पूर्ववत् बहू बनने पर भिसोऽपि हिं' (५ ५) से भिस् को हिं होने पर 'बहूहिं' रूप बनता है।

४४७ वाआ

इसकी मूल प्रकृति 'वाक्' है। 'स्त्रियामात्' (४-७) से क् को आ होने पर यह रूप बनता है।

४४८ पाअडणं, पाअवडणं

इसकी मूल प्रकृति 'पादपतनम्' है। सर्व प्रथम 'पोवः' (२ १५) से प को व होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः (२ २) से द् का लोप होने पर 'सन्ध्यावचामज्लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) से अ का भी विकल्प से लोप होने पर पाद' में केवल 'वा' शेष रहा तब पतनम् के प को भी 'पोवः' (२ १५) से व होने पर 'तवसूपत्यौर्डः (८ ५१) से त को ड होने पर नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न् को ण होने पर सोर्बिन्दुर्नपुंसके (५ ३) से बिन्दु होने पर 'पाअडणं' रूप बनता है पर जिस पक्ष में अ का लोप नहीं होता वहां पाअवडणं यह रूप बनता है।

४४९ वाऊ

इसकी मूल प्रकृति वायु' है। कगचजतदपयवां प्रायो लोपः (२ २) से य् का लोप होने पर सुभिस्सुप्सु दीर्घः (५ १८) से य को दीर्घ होने पर 'अन्त्यहलः' (४ ६) से सु का लोप होने पर 'वाऊ' यह रूप बनता है। इसके अन्य कारकों के रूप कारक प्रकरण में देखने चाहियें।

४३९ बम्हणो—

इसकी मूल प्रकृति 'ब्राह्मण' है। 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर 'सन्ध्यावचामज्लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) से आ को अ होने पर 'ह्म ह्मे मु मलमां स्थिति ऊर्ध्वम्' (३-८) से ह्म को 'म्ह' होने पर अत ओत् सोः (५ १) से ओ होने पर 'बम्हणो' रूप बनता है।

४४० बम्हा—

इसकी मूल प्रकृति 'ब्रह्मन्' है। 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर 'अन्त्यस्य हलः (४ ६) से न् का लोप हुआ और 'ब्रह्माद्या आत्मवत्' (५ ४) से आत्मा के समान ही ब्रह्मा की भी सिद्धि होने पर 'राज्ञश्च' (५ ३६) से आ होने पर 'बम्हा' बनता है।

४४१ वलिअं—

इसकी मूल प्रकृति 'व्यलीकम्' है। जिसका अर्थ कपट या विपरीत होता है। सर्व प्रथम 'अधो मनयाम्' (३-२) से य् का लोप होने पर 'इदीतः पानीयादिषु' (१ १८) से ई को इ होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से क् का लोप होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

४४२ वसही—

इसकी मूल प्रकृति 'वसति' है जिसका अर्थ निवास स्थान है। सर्व प्रथम 'वसतिभरतयोर्हः' (२ ९) से त को ह होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५ १८) से दीर्घ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४४३ वसहो—

इसकी मूल प्रकृति 'वृषभः' है जिसका अर्थ बैल है। सर्व प्रथम 'ऋतोऽत्' (१ २७) से वृ को व होने पर 'शषोः सः' (२ ४३) से ष को स होने पर 'खघथधभां हः' (२ २७) से भ को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर 'वसहो' रूप बनता है।

४४४ बहिरो—

इसकी मूल प्रकृति 'बधिरः' है जिसका अर्थ बहरा है। सर्व प्रथम 'खघथधभां हः' (२ २७) से ध को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४४५ बहुमुहं बहूमुहं—

ये शब्द 'बहुमुख' से बने हैं। सर्व प्रथम 'खघथधभां हः' (२-२७) से ख को ह होने पर 'सन्ध्यावचामज्लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से विकल्प से

के स्थान पर इ होने पर तथा 'अधोमनयाम्' (१ २) से म् का लोप होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से य् का भी लोप होने पर 'लोपः सर्वत्र' (२ ४२) से न को ण होकर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ हुआ और यह प्रयोग बना।

४५६ विआणं—

इसकी मूल प्रकृति 'वितानम्' है जिसका अर्थ चंदवा या चांदनी (जो ऊपर तानी जाती है) है। 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ ४२) से म् का लोप होने पर 'लोपः सर्वत्र' (२ ४२) से न् को ण होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

४५७ विआरस्सो—

इसकी प्रकृति 'विकार वत्' है। सर्व प्रथम 'आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तामतुपः' (४ २५) से वत् के अर्थ में 'इत्त' आदेश होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से क का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४५८ विइण्हो—

इसकी मूल प्रकृति 'वितृष्ण' है। 'इदृष्यादिषु' (१ २८) से तृ की ऋ को इ होने पर, कगचजतदपयवां प्रायो लोपः (२ २) से त् का लोप होने पर 'सूक्ष्मश्नष्णस्नह्नक्ष्णां ण्हः' (३ ३३) से ष्ण के स्थान पर 'ण्ह' होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४५९ विउअं—

इसकी मूल प्रकृति 'विवृत' है। सर्व प्रथम 'उदृत्वादिषु' (१ २९) से वृ के ऋ को उ होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से व का लोप होने पर 'ऋत्वादिषु तोदः' (१-७) से त को द होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

४६० विउलं—

इसकी प्रकृति 'विपुलम्' है जिसका अर्थ बहुत है। 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से प का लोप होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

४६१ विहिअं—

इसकी मूल प्रकृति 'बृंहितम्' है जिसका अर्थ बढ़ाना या विस्तार करना है। सर्व प्रथम 'इदृष्यादिषु' (१ २) से बृ की ऋ को इ होने पर कगचज

श्च के स्थान पर छ होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३ ५०) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व छ को च् होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ २) से क का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर 'विच्छुओ' यह बनता है। पर 'वृश्चिके ञ्चुः' (१ ४१) इस सूत्र से श्च को 'ञ्चु' होने पर और शेष कार्य पूर्ववत् होने पर 'विञ्चुओ' रूप भी बनता है।

४६७ विञ्ञो विण्णो—

इसकी मूल प्रकृति 'विज्ञ' है जिसका अर्थ चतुर या बुद्धिमान है। सर्वप्रथम 'ब्रह्मण्य विज्ञ यज्ञ कन्यकानां ण्य ज्ञन्यानां ञ्ञो वा' (१२-७) से ज्ञ के स्थान पर 'ञ्ञ' होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर 'विञ्ञो' रूप बनता है पर जिस पक्ष में ञ्ञ नहीं होता वहां 'म्नज्ञ पञ्चाशत् पञ्चदशेषु णः' (३-४४) से ज्ञ को ण् होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से ण् को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४६८ विञ्ञाणो—

यह शब्द विज्ञान से बना है 'ज्ञस्य ञ्ञः' (१ -८) से ज्ञ के स्थान पर 'ञ्ञ' होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बना है।

४६९ विंझो विम्झो—

इन दोनों की मूल प्रकृति 'विन्ध्य' है। सर्वप्रथम 'ध्य ह्योर्झः' (३ २८) से ध्य को झ होने पर 'नो हलि' ४ (१४) से विकल्प से बिन्दु ( ) होता है और जहां बिन्दु नहीं होता वहां म हो जाता है। बाकी में 'अत ओत् सो' (५ १) से ओ होने पर दोनों रूप बनते हैं।

४७० विडवो—

इसकी मूल प्रकृति 'विटप' है जिसका अर्थ पेड़ है सर्वप्रथम 'टो डः' (२ २) से ट को ड होने पर 'पो वः' (२ १५) से प को व होने पर 'अत ओत् सो' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४७१ विण्णाणं—

इसकी मूल प्रकृति 'विज्ञानम्' है। सर्वप्रथम 'म्नज्ञपञ्चाशत्पञ्चदशेषु णः' (३ ४४) से ज्ञ को ण होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५०) से ण को द्वित्व होने पर 'नो णः सर्वत्र' (२ ४२) से न् को भी ण होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

४७७ भिसिणी—

इसकी मूल प्रकृति 'बिसिनी' है जिसका अर्थ कमल का पत्ता है। 'बिसिन्यां भः' (२ १८) से ब को भ होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न् को ण् होने पर यह प्रयोग बनता है।

४७८ भिसी—

इसकी मूल प्रकृति 'बृषी' है जिसका अर्थ व्रती लोगों के बैठने का आसन है। सर्वप्रथम 'इदृष्यादिषु' (१ २२) से ऋ को इ होने पर 'बि' हुआ तब 'शषोः सः' (२ ४३) से ष् को स् होने पर यह प्रयोग बना।

४७९ विस्सासो, वीसासो—

इसकी मूल प्रकृति 'विश्वास' है। 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से व् का लोप होने पर 'शषोः सः' (२ ४३) से श् को स होने पर 'सेवादिषु च' (३ ५८) से स को विकल्प से द्वित्व होने पर 'सन्ध्यावचामवर्णस्य विशेषा बहुलम्' (४ १) अथवा 'ह्रस्वः संयोगे' हेमचन्द्र के अनुसार ह्रस्व होने पर विस्सासो रूप बनता है जैसे 'इदीतः पानीयादिषु' (१ १८) से दीर्घ होता है।

४८० वीरिअं—

इसकी मूल प्रकृति 'वीर्यम्' है। 'चौर्यसमेषु रिअं' (१ २) से र्य को रिअं होने पर यह प्रयोग बनता है।

४८१ वीसत्थो—

इसकी मूल प्रकृति 'विश्वस्त' है। 'ईत् सिंह जिह्वयोश्च' (१ १७) से वि को वी होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से व् का लोप होने पर 'शषोः सः' (२ ४३) से ष् को स होने पर 'स्तस्य थः' (३ १२) से स्त को थ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से थ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) से पूर्व थ को त् होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४८२ वीसंभो—

इसकी मूल प्रकृति 'विस्रम्भ' है जिसका अर्थ विश्वास है। सर्वप्रथम 'ईत् सिंह जिह्वयोश्च' (१ १७) से वि को वी होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर 'शषोः सः' (२ ४३) से ष् को स् होने पर 'यमि तद्वर्गान्त' (४ १७) से म् को बिन्दु होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४७७ भिसिणी—

इसकी मूल प्रकृति 'बिसिनी' है जिसका अर्थ कमल का पत्ता है। 'बिसिन्यां भः' (२ १८) से ब को भ होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न् को ण् होने पर यह प्रयोग बनता है।

४७८ बिसी—

इसकी मूल प्रकृति 'बृषी' है जिसका अर्थ ऋषी लोगों के बैठने का आसन है। सर्वप्रथम 'इत्कृपादिषु' (१ २२) से ऋ को इ होने पर 'बि' हुआ तब 'शषोः सः' (२ ४१) से ष् को स् होने पर यह प्रयोग बना।

४७९ विस्सासो, वीसासो—

इसकी मूल प्रकृति 'विश्वास' है। 'कगचजतदपयवां प्रायो लुक्' (१ २) से व् का लोप होने पर 'शषोः सः' (२ ४१) से श् को स होने पर 'सेवादिषु च' (१ २८) से स को विकल्प से द्वित्व होने पर 'लुप्तयवरशषसां शषसां दीर्घः' विशेषा बहुलम् (४ १) अथवा 'ह्रस्वः संयोगे' हेमचन्द्र के अनुसार ह्रस्व होने पर विस्सासो रूप बनता है जैसे 'इतीतः पानीयादिषु' (१ १८) से दीर्घ होता है।

४८० वीरिअं—

इसकी मूल प्रकृति वीर्यम् है। 'चौर्यसमेषुरियं' (१ २) से र्य को रियं होने पर यह प्रयोग बनता है।

४८१ वीसत्थो—

इसकी मूल प्रकृति विश्वस्तः है। 'ईत् सिंह जिह्वयोश्च' (१ १७) से वि को वी होने पर कगचजतदपयवां प्रायो लुक् (२ २) से व् का लोप होने पर 'शषोः सः (२ ४१) से श् को स होने पर 'स्तस्य थः' (१ १२) से स्त को थ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ (१ ६) से थ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (१ ११) से पूर्व थ को त् होने पर 'अत ओत् सोः' (३ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४८२ वीसमो—

इसकी मूल प्रकृति विश्रम्भ है जिसका अर्थ विश्वास है। सर्वप्रथम 'ईत् सिंह जिह्वयोश्च' (१ १७) से वि को वी होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (१ ३) से र् का लोप होने पर 'शषोः सः' (२ ४१) से श् को स् होने पर 'यमि तद्वर्गान्तः' (४ १०) से म् को बिन्दु होने पर 'अत ओत् सोः' (३ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४८३ विम्हओ—

इसकी मूल प्रकृति 'विस्मय' है जिसका अर्थ आश्चर्य है। सर्वप्रथम ष्मस्मविस्मयेषम्हः (१ ३२) से 'स्म' को 'म्ह' होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायोलोपः (२ २) से य् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४८४ वुत्तंतो—

इसकी मूल प्रकृति 'वृत्तान्तः' है जिसका अर्थ हाल या समाचार है। सर्वप्रथम 'उदृत्वादिषु' (१ २९) से वृ के ऋ को उ होने पर उपरिलोपः कग डतदपषसाम् (३-१) से त् का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३ ५) से शेष त को द्वित्व होने पर 'सन्ध्यावचामज्लोप विशेषा बहुलम् (४ १) से आ को अ होने पर 'म्यितद् वर्गान्त' (४ १७) से न् को बिन्दु होने पर अत ओत् सोः (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४८५. वुन्दावणं—

यह शब्द वृन्दावनम्' से बना है। 'उदृत्वादिषु' (१-२९) से वृ की ऋ को उ होने पर 'म्यितद् वर्गान्त' (४ १७) से न् को बिन्दु होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न् को ण होने पर मोबिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

४८६ वेडिसो—

इसकी मूल प्रकृति 'वेतस है। सर्वप्रथम 'इदीषत् पक्वस्वप्न वेतस व्यजन मृदङ्गाङ्गारेषु' (१ ३) से त् के अ को इ होने पर 'प्रतिसर वेतस पताकासु डः (२) से त को ड होने पर 'अत ओत् सो' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४८७ वेलुरिअं—

संस्कृत में 'वैडूर्य एक प्रकार का रत्न है उसको ही प्राकृत में 'वेलुरिअं' कहते हैं। 'वक्रादयो बहुलम्' (४ ११) से यह शब्द निपात है।

४८८ वेल्ली—

इसकी मूल प्रकृति 'वल्लि है जिसका अर्थ बेल या लता है। सर्वप्रथम 'एच्छय्यादिषु' (१ ५) से अ को ए होने पर सर्वत्र लवराम् (३ ३) से ल का लोप होने पर शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ (३ ५) से ल को द्वित्व होने पर 'सुभिसुप्सु दीर्घः (५) से दीर्घ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४८६ बोरं—

इसकी प्रकृति 'बदरम्' है जिसका अर्थ बेर है। 'ओत्बदरे देन' (१ १) से द् तथा अ को ओ होने पर 'सोऽबिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

४९० बंदं, बर्दं—

इसकी मूल प्रकृति 'वृन्दम्' है जिसका अर्थ समूह या समूह है। सर्वप्रथम 'ऋतोऽत्' (१ २७) से ऋ के स्थान पर अ होने पर 'वंदं' यह रूप हुआ तब 'वृन्दे वोरः' (४ २० से व के आगे विकल्प से र् होने पर व हुआ 'यमितद् वर्णानां' (४ १७) से म् को बिन्दु होने पर 'सोऽबिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर बंद बनता है और जिस पक्ष में र् नहीं होता वहां 'बर्दं' बनता है।

४९१ शिआला, शिआलका—

इसकी मूल प्रकृति 'शृगाल' है जिसका अर्थ गीदड़ है। 'शृगाल शब्दस्य शिआला शिआलिका' (११ १०) से शिआला तथा शिआलका आदेश होने से दोनों रूप बनते हैं।

४९२ सढा—

इसकी मूल प्रकृति 'सटा' है जिसका अर्थ जटा होता है। 'सटाशकट कैटभेषु ढः' (२ २१) से ट के स्थान पर ढ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४९३ सअढो—

यह शब्द 'शकटः' से बना है जिसका अर्थ गाड़ी है। 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ २) से क का लोप होने पर 'सटा शकट कैटभेषु ढः' (२ २१) से ट को ढ होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर 'सअढो' रूप बनता है।

४९४ समहुत्तं—

इसकी मूल प्रकृति 'सह कृत्वः' है। सर्वप्रथम 'खघथधभां हः' (२ ४२) से घ् को ह् होने पर क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ २) से त् का लोप होने पर 'कृत्वसो हुत्तमित्यन्ये वैकी शब्दाः स इत्यक्ते' (४ २५) इस प्रक्रिया से कृत्व के स्थान पर 'हुत्तम्' यह प्रत्यय हो जाता है और 'सोऽबिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

४९५ सहस्सहुत्त —

इसकी मूल प्रकृति 'सहस्र कृत्वः' है। 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ २) से त् का लोप

'यमितद्वर्गान्त' (४ १७) से सम् के म को बिन्दु होने पर 'अत ओत् सौः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

५०२ संझा—

इसकी प्रकृति संध्या' है। 'ध्यह्योर्झः (१ २२) से ध्य के स्थान पर 'झ' होने पर सम् के म को 'यमितद्वर्गान्तः (४ १) से बिन्दु ( ) होने पर यह प्रयोग बनता है।

५०३ सका सक्का—

यह शब्द शक्का' से बना है। 'शषो स' (२ ४३) से श को स होने पर 'यमितद्वर्गान्त' (४ १७) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बना है। बिन्दु विकल्प से होने पर ये दोनों प्रयोग बनते हैं।

५०४ संखो सङ्खो—

इसकी प्रकृति 'शङ्ख है। 'शषोः स' (२ ३) से श् को स् होने पर 'यमितद्वर्गान्तः (४ १) से विकल्प से बिन्दु होने पर अत ओत् सो (५ १) से ओ होने पर ये प्रयोग बनते हैं।

५०५ सम्फो सफो—

इसकी मूल प्रकृति 'शम्फ' है जिसका अर्थ नप सक है। 'शषो सः' (२ ४३) से ष् को स होने पर 'यमितद्वर्गान्तः (४ १) से विकल्प से बिन्दु होने पर 'अतओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर ये प्रयोग बनते हैं।

५०६ सपत्ती—

इसकी मूल प्रकृति सम्पत्ति'' है। 'यमितद्वर्गान्तः' (४ १७) से बिंदु होने पर 'शुभिसुप्सुदीर्घः (५ १२) से दीर्घ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५०७ सक्को—

इसकी मूल प्रकृति शक्र' है जिसका अर्थ इन्द्र है शषो सः (२ ४३) से श को स होने प 'सर्वत्र लवराम् (१ ३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेश यो द्वित्व मनादौ' (३-५) से क को द्वित्व होने पर अत ओत् सो (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५०८ संगामो—

इसकी मूल प्रकृति 'सग्राम है जिसका अर्थ युद्ध है। सर्वत्र लवराम् (३-३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३ ५) से ग को द्वित्व होने पर अत ओत् सोः (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५०६ सरफसं—

इसकी मूल प्रकृति 'सरभसं' है। जिसका अर्थ जल्दी या शीघ्रता है। 'वर्गाणां तृतीय चतुर्थयोरयुजोरनाद्योराद्यौ' (१ १) से वर्ग के चौथे भ को उसी वर्ग का दूसरा फ होने से 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ५) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

५१० ससफो—

इसकी मूल प्रकृति 'ससभ' है जिसका अर्थ पतंगा या कीड़ा है। 'शषोः सः' (२४३) से श को स होने पर 'वर्गाणां तृतीय चतुर्थयोरयुजोरनाद्योराद्यौ' (१ १) से भ को फ होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग होता है।

५११ सभावं—

इसकी मूल प्रकृति सभावम्' है जिसका अर्थ स्वरूप के सहित है। 'क ग च ज त द प य वां प्रायोलोपः' (२ २) से प का लोप होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

५१२ सज्जो—

इसकी मूल प्रकृति 'षड्ज' है यह एक स्वर का नाम है। 'शषोः स' (२ ४३) से ष को स होने पर 'उपरि लोप क ग ड त द प ष सां' (१ १) से ड का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (१ ५) से ज् को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५१३ सित्थओ—

इसकी मूल प्रकृति 'सिक्थकम्' है जिसका अर्थ मोम या मधुच्छिष्ट है। सर्वप्रथम पहले क का 'उपरि लोप क ग ड त द प ष सां' (१ १) से लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (१ ५) से थ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्वः' (१ ५१) से पूर्व थ को त् होने पर दूसरे क का 'क ग च ज त द प य वां प्रायोलोपः' (२ २) से लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५१४ सिप्पिढो—

इसकी मूल प्रकृति 'शिपिष्ट' है जिसका अर्थ शिश्नवा है। 'शषोः सः' (२ ४३) से श् को स होने पर 'विप्रकर्ष' (१ ५९) से 'शिप' को जो युक्त वर्ण है विप्रकर्ष (पृथक् करण) होती है और पूर्व स्वरता होने से 'शिपि' यह रूप बनता है 'उपरिलोप कगडतदपषसाम्' (१ १) से ष् का लोप होने पर

५२६ सब्भाव—

इसकी मूल प्रकृति 'सद्भावम्' है। सर्व प्रथम 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से द् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से भ को द्वित्व होने पर 'द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः' (३ ५१) से पूर्व भ को ब् होने पर 'मोऽनुस्वारः' (५ १) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

५२७ समरी—

इसकी मूल प्रकृति 'शफरी' है जिसका अर्थ मछली है। 'शषोः सः' (२ ४३) से श को स होने पर 'फोभः' (-२६) से फ को भ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५२८ सिभा—

इसकी मूल प्रकृति शिफा' है जिसका अर्थ पेड़ की जड़ है 'शषोः सः' (२ ४३) से श को स होन पर 'फोभः' (२ २६) से फ को भ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५२९ सेभालिआ—

इसकी मूल प्रकृति 'शेफालिका' है जिसका अर्थ निगुण्डी नाम की लता है। 'शषोः सः' (२ ४३) से श को स होने पर 'फोभः' (२ २६) से फ को भ होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से क का लोप होने पर यह प्रयोग बनता है।

५३० सभलं—

इसकी मूल प्रकृति 'सफलं' है। 'फोभः' (२ २६) से फ को भ होने पर 'मोऽनुस्वारः' (५ १) से बिन्दु होनेपर यह प्रयोग बनता है।

५३१ सावो—

इसकी मूल प्रकृति 'शापः' है। 'शषोः सः' (२ ४३) से श को स होने पर 'पोवः' (२ १५) से प को व होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५३२ सवहो—

इसकी मूल प्रकृति 'शपथः' है। 'शषोः सः' (२ ४३) से श को स होने पर 'पोवः' (२ १५) से प को व होने पर 'खघथधभाम्हः' (२ २७) से थ को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

पुंसि' (४ १८) से पुल्लिंग प्राप्त था पर 'नाम्रो नमसी' (४ १९) से नपुंसक लिंग ही होता है और 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

५५२ सिरी—

इस ी मूल प्रकृति 'श्री' है जिसका अर्थ लक्ष्मी है। 'शषो: सः' (२ ४३) से श् को स होने पर 'ह' श्री ह्री कीत क्लान्त क्लेशम्लान स्वप्न स्पर्श हर्षार्ह गर्हेषु' (३ ६२) से युक्त वर्ण को विप्रकर्ष होने पर और इ होने पर यह रूप बनता है।

५५३ सिलिट्ठं—

इसकी मूल प्रकृति श्लिष्टम् है जिसका अर्थ मिला हुआ है। 'शषो: सः' (२ ४३) से श को स होने पर 'क्लिष्ट श्लिष्ट रत्न क्रिया शार्ङ्गेषुतत्स्वरवत-पूर्वस्य' (३ ६) से 'श्लि' को विप्रकर्ष होने पर तथा पूर्व स्वरता होने पर सिलि रूप बनता है। फिर ष्टस्यठः (३ १) से ष्ट को ठ होने पर 'शेषा देशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से ठ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युज पूर्वः' (३ ५१) से पूर्व ठ को ट होने पर अत ओत् सो (५ १) से ओ हो जाने पर यह प्रयोग बनता है।

५५४ सिविणो—

इसकी मूल प्रकृति 'स्वप्न' है। सर्वप्रथम 'पूर्वीवत' स्वप्न वेतस व्यजन मृदङ्गाङ्गारेषु' (१ ३) से स्व के व को इ होने पर सवत्रलवराम्' (३ ३) से व का लोप होने पर 'सि' बनता है। तब 'पोव' (२ १५)से प को व होने पर 'ह' श्री ह्री कीत क्लान्त क्लेश म्लान स्वप्न स्पर्शाहर्षार्ह गर्हेषु' (३ ६२) से इ तथा पूर्व स्वरता होने पर नोण सर्वत्र (२ ४२) से न को ण होने पर अत ओत सो (५ १ से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५५५ सीभरो—

इसकी मूल प्रकृति 'सीकर' है जिसका अर्थ कण या छोटी छोटी बूंदें है 'शषो: सः' (२ ४३) से श को स होने पर शीकरेभः (२ ५) से क को भ होने पर 'अत ओत सो' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५५६ सीहो—

इसकी मूल प्रकृति सिंह है। ईत सिंह जिह्वयोश्च (१ १७) से इ को ई होने पर 'सन्ध्याच बाच्य लोपविशेषा बहुलम् (४ १) से अनुस्वार का लोप होने पर अत ओत् सो (५ १) से ओ होने पर सीहो प्रयोग बनता है।

५६२ सूई—

इसकी मूल प्रकृति सूची है। 'क ग च ज त द प य वां प्रायोलोपः' (२ २) से च् का लोप होने पर यह प्रयोग बनता है।

५६३ सेलो—

इसकी मूल प्रकृति 'शैल' है जिस का अर्थ पहाड़ है। 'शषोः सः (२ ४३) से श को स होने पर 'ऐत एत्' (१ ३५) से ऐ को ए होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५६४ सेज्जं—

इसकी मूल प्रकृति 'शय्यं' है। 'शषोः सः' (२ ४३) से श को स होने पर 'ऐत एत्' (१ ३५) से ऐ को ए होने पर 'द्यय्यर्यां जः' (३ १७) से य्य को ज होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से ज को द्वित्व होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

५६५. सेज्जा—

इसकी मूल प्रकृति 'शय्या' है। 'शषोः स (२ ४३) से श को स होने पर 'ए शय्यादिषु' (१ ५ से अ को ए होने पर 'र्य शय्याभिमन्युषु' (३ १७) से 'य्य' को ज् होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५) से ज को द्वित्व होने पर यह प्रयोग बनता है।

५६६ सेव्वा, सेवा—

ये शब्द सेवा से बने हैं। 'सेवादिषु च' (३ ५८) से व को विकल्प से द्वित्व होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

५६७ सोअमल्लं —

इसकी मूल प्रकृति 'सौकुमार्यम्' है। सर्वप्रथम 'औत ओत्' (१ ४१) से औ को ओ होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायोलोपः' (२ २) से क का लोप होने पर 'अत् मुकुलादिषु' (१ २२) से उ को अ होने पर 'सन्धावचामज्लोप विशेषाः बहुलम्' ४ १) से मा के आ को अ होने पर 'पर्यस्त पर्याण सौकुमार्येषु ल्लः' (३ २१) से र्य को ल होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५) से ल को द्वित्व होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

५६८ सोसं—

इसकी मूल प्रकृति 'शीर्ष' है। 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर 'अन्त्यस्य हलः' (४ ६) से ष का लोप होने पर 'नीडादिषु च' (१ ५२) से उ

५७४ हणुमा, हणुमन्तो—

इसकी मूल प्रकृति 'हनुमान्' है। 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न को ण होने पर 'क्वचिदात्मतुपोऽन्त्यस्य मन्तोवा दृश्यते क्वचित्' (वार्तिक सूत्र) से मतुप के स्थान पर आ भी होता है और पक्ष में 'मन्त' भी होता है। यह वार्तिक 'आल्विल्लोल्लाल वन्तेन्तामतुप' (४ २५) इस सूत्र पर है। इससे आ होने पर हणुमा और 'मन्त' होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर 'हणुमन्तो' यह रूप बनता है।

५७५ हत्थो—

इसकी मूल प्रकृति 'हस्तः' है। 'स्तस्य थः' (३ १२) से स्त का थ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५०) से थ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) से पूर्व थ् को त होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

५७६ हसो—

इसकी मूल प्रकृति 'ह्रस्व' है जिसका अर्थ छोटा है। 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से र तथा व का लोप होने पर 'वक्रादिषु' (४ १५) से बिन्दु होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५७७ हरिसो—

इसकी मूल प्रकृति 'हर्ष' है। 'शषोः सः' (२ ४३) से ष को स होने पर 'श्री ह्री कृत्स्न क्रियादिष्टयास्वित्' 'स्नेह अग्नि स्वप्न स्पर्श हर्षार्ह गर्हेषु' (३ ६२) से संयुक्त को विप्रकर्ष (स्वरभक्ति) होने पर तथा इ होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५७८ हलद्दा, हलद्दी—

इसकी मूल प्रकृति 'हरिद्रा' है। जिसका अर्थ हल्दी है। 'इत् पथि हरिद्रा पृथिवीषु' (१ १३) से इ को अ होने पर 'हरिद्रादीनां रोलः' (२ ३०) से र् को ल होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से र का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५०) से द् को द्वित्व होने पर 'हलद्दा' रूप बनता है। पर 'आदीतौ बहुलम्' (५ २४) से विकल्प से आ को ई होने पर 'हलद्दी' रूप बनता है।

५७९ हसिओ, हासिओ—

इसकी मूल प्रकृति 'हासित' है जिसका अर्थ हंसने वाला है। 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से त का लोप होने पर 'अदातो यथादिषु वा' (१ १०) से आ को विकल्प से अ होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

प्राकृत भाषाओं में

सर्वनाम, निपात, कारक तथा क्रियायें

१ अहं—

यह सर्वनाम संस्कृत के 'अहम्' का रूप है 'क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायोलोपः' (२-२) से य का लोप होने पर 'मो बिन्दुः' (४ १२) से म को बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२ अइ—

संस्कृत के 'अयि' और 'अपि' के स्थान पर यह प्रयुक्त होता है। 'अइ वने संभावने' (९ १२) से यह निपात संज्ञक है। 'क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायोलोपः' (२ २) से प अथवा य का लोप होने पर यह प्रयोग सिद्ध हो सकता है।

३ अरे—

यह निपात है और संभाषण रति कलह तथा आक्षेप अर्थों में 'रे अरे हिरे संभाषण रतिकलहाक्षेपेषु' (९ १५) से निपात संज्ञा होती है।

४ अंकुसो—

इसकी मूल प्रकृति 'अंकुश' है। 'शषोः सः' (२ ४३) से श को स होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५ अंसो—

इसकी मूल प्रकृति 'अंश' है। 'शषोः सः' (२ ४३) से श को स होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग सिद्ध होता है।

६ अङ्को अंको—

इसकी प्रकृति 'अङ्क' है। 'यथितवर्गान्त्यः' (४ १७) से विकल्प से बिन्दु तथा वर्ग का अन्तिम अक्षर ङ होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

२६ अह्माहितो, अह्मासुंतो—

संस्कृत में अस्मद् शब्द से भ्यस् होने पर अस्मभ्यम रूप बनता है। इसी के स्थान पर प्राकृत भाषाओं में अह्माहितो अह्मासुंतो भ्यसि (१ ४८) से ये दोनों रूप बनते हैं।

२७ अह्मेसु—

संस्कृत में अस्मद् शब्द से सप्तमी के बहुवचन में सुप् होने पर अस्मासु रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'अह्मेसु सुपि' (१ ५१) से यह प्रयोग बनता है।

२८ अवक्खइ—

संस्कृत में 'दृशिर् प्रेक्षणे' इस धातु से देखने अर्थ में पश्यति यह प्रयोग होता है। उसी का प्राकृत मे 'अवक्खइ' रूप भी बनता है। 'दृशे पुलअणि अवक्ख अवक्ख' (१९) से अवक्ख होने पर 'तिपि एकोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

२९ अवयासं—

इसकी मूल प्रकृति 'अवकाश म्' है। 'पोव' (२ १५) से प को व होने पर 'मोऽनुस्वारः' (५ १) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है। 'कगचजतदपयवां प्रायो लोप' (२ २) से प का लोप सूत्र में प्राय होने से नहीं होता।

३० अवरि—

इसकी मूल प्रकृति 'उपरि' है। 'अल्पुकुटादिषु' (१ २२) से उ को अ होने पर 'पोव' (२ १५) से प को व होने पर यह प्रयोग बनता है।

३१ ओवासइ, अववासइ—

ये दोनों रूप 'अवकाशते' से बनते हैं। अव उपसर्ग पूर्वक काश् धातु से संस्कृत में अवकाशते बनता है। 'काशेर्वास' (८ १६) से काश को वास आदेश होने पर 'तिपि एकोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर अववासइ रूप बनता है। पक्ष मे 'ओदवापयो' (४ २१) से विकल्प से अव को ओ होने पर 'ओवासइ' रूप बनता है।

३२ ओवाहइ, अववाहइ—

संस्कृत में अव उपसर्ग पूर्वक गाह् विलोडने धातु से 'अवगाहते' रूप बनता है। प्राकृत भाषाओं में 'अवाद्गाहेर्वाह' (८-१४) से गाह् के स्थान

२६ अम्हाहिंतो, अम्हासुंतो—

संस्कृत में अस्मद् शब्द से भ्यस् होने पर अस्मभ्यम् रूप बनता है। उसी के स्थान पर प्राकृत भाषाओं में 'अम्हाहिंतो अम्हासुंतो भ्यसि' (१ ४८) से ये दोनों रूप बनते हैं।

२७ अम्हेसु—

संस्कृत में अस्मद् शब्द से सप्तमी के बहुवचन में सुप् होने पर अस्मासु रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'अम्हेसु सुपि' (६ २१) से यह प्रयोग बनता है।

२८ अवअच्छइ—

संस्कृत में 'दृशिर् प्रेक्षणे' इस धातु से देखने अर्थ में पश्यति यह प्रयोग होता है। उसी का प्राकृत मे अवअच्छइ रूप भी बनता है। 'दृशो पुलअनि अवअ अवअच्छा' (१९) से अवअच्छ होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

२९ अवअसं—

इसकी मूल प्रकृति 'अपकाशम्' है। 'पो वः' (२ १५) से प को व होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है। 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से प का लोप सूत्र में 'प्राय' होने से नहीं होता।

३० अवरि—

इसकी मूल प्रकृति 'उपरि' है। 'अन्मुकुलादिषु' (१ २२) से उ को अ होने पर 'पो वः' (२ १५) से प को व होने पर यह प्रयोग बनता है।

३१ ओवासइ अववासइ—

ये दोनों रूप 'अवकाशते' से बनते हैं। अव उपसर्ग पूर्वक काशृ धातु से संस्कृत में अवकाशते बनता है। 'काशेर्वासः' (८ १५) से 'काश' को 'वास' आदेश होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर अववासइ रूप बनता है। पक्ष मे 'ओदवापयोः' (४ २१) से विकल्प से अव को ओ होने पर 'ओवासइ' रूप बनता है।

३२ ओवाहइ, अववाहइ—

संस्कृत में अव उपसर्ग पूर्वक गाहू विलोडने धातु से 'अवगाहते' रूप बनता है। प्राकृत भाषाओं में 'अवाद्गाहेर्वाहः' (८-१४) से गाह के स्थान

४० अह—

संस्कृत में अदस शब्द से सु होने पर असौ' रूप बनता है उसी का प्राकृत म 'अह' होता है। ह्रस्वसौ' (१ २४) से व को ह होने पर अन्त्यहल. (४ १) से स् का लोप होने पर यह रूप बनता है।

४१ अमू—

अदस् शब्द से सुप् होने पर यह रूप भी बनता है। 'अदसो दो मु' (१ २३) से द को मु होने पर अन्त्यहल (४ १) से स् का लोप होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः २ १८) से दीर्घ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४२ अमूओ—

अस्मद् शब्द से प्रथमा बहुवचन 'जस् के होने पर अदसो दो मु' (१ २३) से द् को मु होने पर 'जसशसो पुंस्त्वम्' (५ १६) से जस् को ओ होने पर 'अन्त्यहल ४ १) से स् का लोप होने पर यह प्रयोग बनता है।

४३ अमूइ—

अदस् शब्द से जस् होने पर 'अदसो दो मु' (१ २३) से द को मु' होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः (५ १८) से दीर्घ होने पर इज्जस्शसोर्दीर्घश्च' (५ २६) से इ होने पर अन्त्यहल (४ १) से स् का लोप होने पर यह प्र ोग बनता है।

४४ अहम्मि—

अस्मद् शब्द से अम होने पर अहम्मिरमिच (६ ४१) स 'अहम्मि' होने पर यह रूप बनता है।

४५. अहके—

मागधी में अस्मद् शब्द से सु होने पर 'अस्मदःसौ हके हगे अहके' (११ ९) से अहके होन पर यह प्रयोग बनता है।

४६ अहिमञ्जू—

इसकी मूल प्रकृति अभिमन्यु है। 'खघथधभांह' (२ २७) से भ को ह होन पर 'र्यशय्याभिमन्युषु (३ १७) से 'न्य' को ञ होने पर 'शेषा देशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५) से ञ् को द्वित्व होने पर सुभिस्सुप्सुदीर्घः (५ १८) से दीर्घ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४७ आअच्छदि—

इसकी मूल प्रकृति आगच्छति है। 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से ग का लोप होने पर अनादावयुजोस्तथयोर्दधौ (१२ ३) त को द होने पर यह प्रयोग बनता है।

'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से द् का लोप होने पर ये प्रयोग बनते हैं।

५४ इमो—

इदम + सु इस अवस्था में 'इदमइमः' (६ १४) से इदम को इम होने पर 'सन्ध्यावचाम लोप विशेषाः बहुलम (४ १ से अ का लोप होने पर अत ओत सोः' (५ १) से ओ होने पर पर यह रूप बनता है।

५५ इमे—

इदम् + जस इस अवस्था में 'इदम इम   (६ १४) से इम होने पर 'सर्व वेर्जसएत्वम्' (६ १) से ए होने पर यह प्र ोग बनता है।

५६ इमं—

इदम + अम से इदम इमः ६ १४) से इम होने पर 'अतो म' (५ १) से अम के अ का लोप होने पर यह रूप बनता है। 'मोबिन्दु' (४ १२) से बिन्दु भी होता है।

५७ इमेण—

इदम + टा इस अवस्था में 'इदम इमः (६ १४) से इम होने पर एचसुप्य इदसो (५ १२) से ए होने पर 'टामोर्ण' (५ ४) से ट को ण होने पर यह प्रयोग बनता है।

५८ इमेहि—

इदम + भिस इस अवस्था में 'इदमइमः (६ १४) से इम होने पर एचसुप्यडिङसोः (५ १२) से ए होने पर 'भिसोहि (५ ५) से हि होने पर यह प्रयोग बनता है।

५९ इह—

इदम + ङि इस अवस्था में 'ङेर्मेन ह' (६ १६) से इद् को ह होने पर यह रूप बनता है।

६० इमिणा

इदम + टा इस अवस्था में इदमेतद् कई यत्तद्भ्यष्टा इणा वा' (६ ३) से टा को इणा होने पर 'इदमइमः ६ १४) से इदम को इम होने पर सन्ध्यावचाम्यच व विशेषाबहुलम' (४ १ से अ का लोप होने पर यह रूप बनता है

६१ इदं, इणं, इणमो—

ये रूप इदम्+सु अथवा इदम् + अम् में नपुंसक लिंग में होते हैं। 'नपुंसके स्वमोरिदमिणमिणमो' (६ १८) से इदं इणं इणमो ये आदेश होते हैं।

६२ इमेसिं—

इदम् + आम् में 'इदम इमः' (६ १४) से इम होने पर 'आमएसिं' (६-४) से एसिं होने पर 'सन्ध्यावचामज्लोपविशेषा बहुलम्' (४ १) से अ का लोप होने पर यह प्रयोग बनता है।

६३ इसि—

इसकी मूल प्रकृति ईषद् है जिसका अर्थ थोड़ा या कम है। सर्वप्रथम 'सन्ध्यावचामज्लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) से ई को इ होने पर 'इदीषत् पक्व स्वप्न वेतस व्यजन मृदङ्गाङ्गारेषु (१ ३) से ए के अ को इ होने पर 'शषोः सः' (२ ४३) से ष को स होने पर 'अन्त्यस्य हलः' (४ ६) से द् का लोप होने पर यह रूप बनता है।

६४ उग्ग—

संस्कृत में उग्र धातु हिंसा के अर्थ में है उसी को हेमचन्द्र के अनुसार विकल्प से 'उग्र मर्षे' (हेमचन्द्र) के अनुसार 'उग्ग' हो जाता है और यह रूप बनता है।

६५ उक्का—

इसकी मूल प्रकृति उल्का है। 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से ल का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से क को द्वित्व होने पर यह रूप बनता है।

६६ उक्खअं उक्खाअं—

इसकी मूल प्रकृति 'उत्खातम्' है। सर्वप्रथम उत् के त का 'उपरिलोपः क ग ड त द प ष साम्' (३ १) से त् का लोप होने पर 'अदातो यथादिषु वा' (१ १०) से आ को विकल्प से अ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३५) से ख को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व ख को क होने पर दूसरे त का 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ २) से लोप होने पर 'नौबिन्दुर्हले' (४ १२) से बिन्दु होने पर 'उक्खअं' रूप बनता है पर जिस पक्ष में अ नहीं होता वहां सब कार्य पूर्ववत होने पर 'उक्खाअं' रूप बनता है।

मनादौ' (३ ५) से म को भी द्वित्व होने पर 'सन्धिवीरितैतौ' (७-१) से ति को द होने पर यह प्रयोग बनता है।

७३ उवसग्गो—

इसकी मूल प्रकृति 'उपसर्गः' है। 'पोव' (२ १५) से प को व होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से ग को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

७४ एअं, एव्वं—

इसकी मूल प्रकृति 'एवम्' है। 'यावत्तावदेवकस्य' (४ ५) से व् का लोप विकल्प से होने पर 'मोबिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है। पर जिस पक्ष में व् का लोप नहीं होता वहां 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५) से व को द्वित्व होने पर पूर्ववत् बिन्दु होने पर यह रूप बनता है। एव का एअ रूप बनता है।

७५ एक्कं एअं—

इसकी मूल प्रकृति 'एकम्' है 'सेवादिषु च' (३ ५८) से विकल्प से द्वित्व होने पर 'मोबिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर 'एक्कं' रूप बनता है पर जिस पक्ष में द्वित्व नहीं होता वहां 'क ग च ज त द पयवां प्रायो लोपः' (२ २) से क का लोप होने पर पूर्ववत् बिन्दु होने पर 'एअं' रूप बनता है।

७६ एण्हिं—

इसकी मूल प्रकृति 'इदानीम्' है। 'दादाल्वो बहुलम्' (४-३३) से इदानीं के स्थान पर 'एण्हिं' निपात होता है।

७७ एद्दहं एत्तिअं—

इसकी मूल प्रकृति 'एतावत्' है। एतद् शब्द से 'वतिं वाले किमादिभ्यो-डावन्ति केदृशप्रत्यय' इस वार्तिक से डह् और त्तिअ ये प्रत्यय होते हैं— 'मो बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

७८ एत्तो—

एतद् शब्द से ङ सि विभक्ति में संस्कृत में एतस्मात् बनता है इसी का 'एत्तो' प्रयोग प्राकृत भाषाओं में होता है। एतद्+ङस् से 'अन्त्यस्य हलः' (४ ६) से द का लोप होने पर 'त्तो ङसेः' (६ २) से ङ स को त्तो होने पर 'तो त्यदोस्तलोपः' (६-२१) से त का लोप होने पर यह रूप बनता है।

७९ एत्थ—

एतद्+ङि से संस्कृत में 'एतस्मिन्' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'एत्थ' बनता है। द् का लोप 'अन्त्यहल' (४ ६) से होने पर त का लोप 'उपरि लोपः कगडतदपषसाम्' ... (३ १) से होने पर 'ङे स्सि म्मित्थाः (६ २) से 'त्थ' होने पर यह रूप बनता है।

८० एस, एसो—

एतद् शब्द से सु होने पर अन्त्यहल (४ ६) से द् का लोप होने पर 'तदेतदोः सः सावनपुंसके' (६ २८) से त को स होने पर 'एतदः सौ वोत्वं वा' (६-१९) से विकल्प से ओ होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

८१ एते, एदे—

एतद् से जस् होने पर 'अन्त्यहल' (४ ६) से द् का लोप होने पर 'अनादावयुजोस्तथयोर्दधौ' (१२-३) से त को द होने पर 'सर्वादेर्जसेरत्वम्' (६ १) से ए होने पर एते तथा एदे विकल्प से द होने पर बनते हैं।

८२ एदेण, एदिणा—

एतद् शब्द से टा होने पर 'अन्त्यहल' (४ ६) से द् का लोप होने पर 'अनादावयुजोस्तथयोर्दधौ' (१२ ३) से त को द होने पर 'इदमेतत्किंयत्तद्भ्यष्टा इणा वा' (१) से टा को विकल्प से इण् होने पर 'अन्त्यस्य अत्लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) से अ का लोप होने पर एदिणा रूप बनता है पर जिस पक्ष में इण् नहीं होता वहां पूर्ववत् द् का लोप होने पर तथा त को द होने पर 'एत्सुप्यादिकासोः (५ ४) से ए होने पर 'टामोर्ण' (५ ४) से ण होने पर एदेण प्रयोग बनता है।

८३ एदेसिं, एदाणं—

एतद् शब्द से षष्ठी के बहुवचन में आम् होने पर अन्त्यहल (४ ६) से द् का लोप होने पर 'अनादावयुजोस्तथयोर्दधौ (१२ ३) से त को द होने पर अन्त्यस्य अत्लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) से अ का लोप होने पर 'आमएसिं' (६ ४) से विकल्प से आम् को एसिं होने पर 'एदेसिं' रूप बनता है पर जिस पक्ष में 'एसिं नहीं होता वहां पूर्ववत् द् लोप तथा त को द होने पर टामोर्णः (५ ४) से ण होने पर 'आ...तयोर्यासु दीर्घः (५ ११) से दीर्घ होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

८४ एरिसो—

इसकी मूल प्रकृति 'ईदृश' है। 'इदीतः पानीयादिषु' (१ १९) से ई को ए होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः (२ २) से द् का लोप होने

क होने पर 'सर्वविभक्ति एत्वं' (६ १) से ए होने पर तथा 'सन्ध्याव का मध्य लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) से म का लोप होने पर 'अस्तोलोप' (५ २) से अत का लोप होने पर 'के' बनता है। किम+टा से 'किम' कः' (६ ११) से क होने पर एवकुप्पविकलो' (५ १२) से ए होने पर 'टामोर्ण' (५ ४) से ण होने पर 'केण' रूप बनता है। कि+भिस् में 'किम' कः' (६ ११) से क होने पर एवकुप्पविकलो' (५,१२) से ए होने पर 'भिसोहिं' (५ ५) से हि होने पर केहिं' रूप बनता है।

९२ किणा—

यह रूप भी विकल्प से किम्+टा का बनता है। 'किम' कः' (६ ११) से किम् को क होने पर 'इदमेतत् किंयत्तद्भ्यष्टा इणावा' (६ ३) से टा को 'इणा होने पर किणा रूप बनता है।

९३ केसिं—

किम्+माम् (षष्ठी के बहुवचन) में यह प्रयोग बनता है। 'किमः कः' (६ ११) से किम् को क होने पर 'सन्ध्यावयावबलोप विशेषा बहुलम्' (४ १) से म का लोप होने पर आम एसि' (६ ४) से 'एसि होने पर यह प्रयोग बनता है।

९४ कास, कस्स—

कि शब्द से ङस् (षष्ठी के एक वचन) में 'किंयत्तद्भ्यो ङस आसः' (६-२) से विकल्प से आस होने पर 'किमः कः (६ ११) से कि को क होने पर कास बनता है पर जहां आस नहीं होता वहां 'ङसोस्स' (५-८) से स्स होने पर कस्स रूप बनता है।

९५ किस्सा, कीसे, कीआ, कीए, कीअ, कीइ—

किम् शब्द से ङस ङसि कि में ये रूप भिन्न-भिन्न प्रत्यय होने पर बनते हैं। 'इदुभ्य स्सा से (६ ६) से स्सा से प्रत्यय होने पर अनत्यहलः' (४ ६) से द् का लोप होने पर 'किस्सा, कीसे' रूप बनते हैं। दीर्घ सन्ध्यावयावबलोप विशेषा बहुलम् (४ १) से होता है। शेष चारों रूप 'टाङस् ङीनामिदेददात' (५ २२) से इत् एद् अत् और आत् होने पर बनते हैं।

९६ कत्तो, कदो—

किम् शब्द से ङसि पञ्चमी के एकवचन) में त्तो दो ङसे' (६ ९) से त्तो दो होने पर और 'किम कः (६ ११) से किम् का क होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

९७ कधेहि—

संस्कृत के 'कथय' (कहो) जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है उसी अर्थ में पै शैनी प्राकृत में कधेहि रूप बनता है। 'अनादावयुजोस्तथयोर्दधौ (१२ थ को ध होने पर 'नावेनेदा' (७ १४) से ए होने पर 'तातोमविष्यति' (७-१२) से हि होने पर यह रूप बनता है।

९८ कहुअ—

संस्कृत के 'कृत्वा' (करके) के अर्थ में 'कहुअ होता है कृत्वोर्दु (१२ १) से दुअ होने पर 'ऋतोऽत्' (१ २७ से ऋ को अ होने पर प्रयोग बनता है। हेमचन्द्र के अनुसार 'कदुअ' 'करिअ' ये दो रूप भी बनते

९९ कहिं कस्सि कम्मि, कत्थ—

किम् शब्द से ङि (सप्तमी के एक वचन) में ये रूप बनते हैं। 'ङ (९ ७) से हिं होने पर 'कहिं' रूप बनता है। सर्वत्र 'किमः कः' (६ १३) किम् को क होने प 'ङेस्सिं म्मित्था' (६-८) से स्सिं म्मि त्थ होने पर तीन रूप बनते हैं।

१०० करइ—

कृ धातु से 'ऋतोऽरः (८ १२) से अर होने पर कर बनता है और ति 'तिसिपोरिदेतौ' (७-१) से इ होने पर यह रूप बनता है।

१०१ कुणइ—

कृ धातु से 'कृञः कुणो वा' (८ १३) से कुण होने पर 'तिसिपोरिदे (७ १ से इ होने पर यह रूप बनता है।

१०२ करेमि—

कृ धातु से 'कृञ्कर' (१२ १५) से कर होने पर 'नावेनेदा' (७-१ से ए होने पर 'इडमिपोर्मिः (७ ३) से मि होने पर 'करेमि' रूप बनता है।

१०३ करिस्सामि—

यह रूप कृधातु से बनता है 'कृञ्कर (१२ १५) से कृ को कर होने 'एच सदा, सुसुप लक्षणमविष्यत्सु' (७ ११) से इ होने पर 'स्सो स्सामि (११ १६) से स्सामि होने पर करिस्सामि प्रयोग बनता है।

१०४ कारेइ—

संस्कृत मे प्यन्त प्रक्रिया (प्रेरणार्थक) से कृञ् धातु से णिच् प्रत्यय हो 'कारयति' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषा मे कारेइ रूप होता है

सर्वप्रथम 'ऋतोऽत्' (८-१२) से ऋ को अ होने पर 'णिचएदादेरत आत्' (७ २९) से अ को आ होने पर और ए होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७ १) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१०५ करावेइ—

यह रूप भी ।रय त (करवाता है) का बनता है। आवेच' (७-२७) से आव् भी विकल्प से होता है। 'ऋतोऽत्' (८ १२) से अर होने पर ए होने पर तथा आव् हो जाने पर 'ततिपोरिदेतौ (७-१ से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१०६ कराविअं, कारिअं—

भाववाच्य तथा कर्मवाच्य में क्त प्रत्यय होने पर संस्कृत में कारितम्' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'कराविअं' रूप होता है। सर्वप्रथम 'ऋतोऽत्' (८ १२) से कृ को ऋ को अर होने पर आवि: क्त कर्मभावेषु वा' (७ २८) से विकल्प से आवि होने पर क्त क क त् का लोप क ग च ज त द पयवां प्रायोलोप (२ २) से होने पर सोबिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है। जहां आवि नहीं होता वहां 'कारितम् में क ग च ज त द पयवां प्रायोलोप २ २) से त् का लोप होने पर 'सोबिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर कारिअं बनता है।

१०७ कारिज्जइ, कराविज्जइ—

कृञ् धातु से 'यक्येच' (७ २१) से यक प्रत्यय होने पर पूर्ववत् 'ऋतोऽत्' (८ १२) से अर होने प और आवि क्त कर्मभावेषु वा' (७-२८) से आवि होने पर ततिपोरिदेतौ' (७ १) से इ होने पर 'कराविज्जइ' रूप बनता है। संस्कृत के कारितम् से कारिज्जइ' रूप बन जाता है।

१०८ करिसइ—

यह प्रयोग संस्कृत के कर्षति का बनता है। सर्वप्रथम 'ऋ ऋ ृष वृषाख्योऽरि' (७ ११) से ऋ को अरि होने पर शषो स (२ ४२) से ष् को स् होने पर 'ततिपोरिदेतौ (७ १ से इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१०९ करिसो—

इसकी मूल शब्द करीष' है जिसका अर्थ सूखा गोबर या कण्डा है। 'ईतः सेवादिषु' (१ १८) से ई को इ होने पर 'शषो सः (२ ४२)

११७ कामअं—

कृञ् धातु से 'लङ्लृ' में यह रूप बनता है। 'कृञःकामुत्तमविभ्यतोश्च' (८ १७) से का होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायोलोपः' (२ २) से द् का लोप होने पर 'अधोमनयाम्' (३ २) से य् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५) से म को द्वित्व होने पर 'मोबिन्दुः' (४ १२) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

११८ काउं—

कृञ् धातु से संस्कृत में कर्तुम रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'काउं' होता है। 'कृञः का मुत्तमविष्यतोश्च' (८ १७) से का होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायोलोपः' (२ २) से त् का लोप होने पर 'मोबिन्दुः' (४ १२) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

११९ कातूनं—

कृञ् धातु से पैशाची प्राकृत में क्त्वा प्रत्यय के योग में यह रूप बनता है। 'कृञः का मुत्तमविष्यतोश्च' (८ १७) से कृञ् को का होने पर 'क्त्वस्तूनं' (१० १३) से तून आदेश होने पर यह प्रयोग बनता है।

१२० कासासं, कासाअसं—

इनकी मूल प्रकृति 'कासायसम्' है जिसका अर्थ लोहा है। 'कालायसे यस्य वा' (४ ३) से य का लोप विकल्प से होने पर जिस पक्ष में य का लोप हो जाता है वहां 'कासासं' रूप 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३०) से बिन्दु होने पर होता है और जहां इस सूत्र से य का लोप नहीं होता वहां 'क ग च ज त द प य वां प्रायोलोपः' (२ २) स य् का लोप होने पर पूर्ववत् बिन्दु होने पर 'कासाअसं' यह प्रयोग बनता है।

१२१ काहं—

संस्कृत के 'करिष्यामि' अर्थ म काहं बनता है। 'श्रुवाग्वचि मुचिरुदि विदिच्छिदांकाहं दाहं सोच्छं वोच्छं मोच्छं रोच्छं वेच्छं छेच्छं' (७-१६) इस सूत्र से 'काहं' आदेश होता है।

१२२ काहे—

यह रूप 'कदा' का बनता है। 'किमः कः' (६ ११) से किम् को क होने पर आहे इआ काल (६ ८) से आहे होने पर 'अन्त्यस्य हलः' लोप विकल्प बहुलम् (४ १) से क के अ का लोप होने पर 'काहे' रूप बनता है।

होने पर पूर्व स्वरता भी होने पर 'किरी' यह रूप बनता है फिर 'अत ओत् सो' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

१३० किलिस—

इसकी मूल प्रकृति क्लान्तम् है जिसका अर्थ उरा करना है। सर्वप्रथम 'ऋत: ऋकृत इलि:' (१ ३१) से ऋ को 'इलि' होने पर 'किलि' बनता है फिर 'सर्वत्रलोप' व य र ल व य वसाम (३ १) स य का लोप होने पर 'शेषादेश-य द्वित्वमनादौ' (३ ५) से त् को द्वित्व होने पर 'मोबिन्दुलुप्तके' (५ ३०) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

१३१ किसरो—

इसकी मूल प्रकृति कृशर है   इत्यादिव' (१ १२) से ऋ को इ होने पर 'शषो स' (२ ४३) से श को स होने पर अत ओत् सो' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१३२ किस्सा—

संस्कृत में किम् शब्द से अम् विभक्ति में स्त्रीलिंग में कस्या बनता है वही का प्राकृत में 'किस्सा' होता है। इदम्य स्सा से (६ ६) से अम् को स्सा आदेश होने पर यह प्रयोग बनता है। कासे कीमा कीए, कीअ, कीइ आदि रूप भी इस्‌ में बनते हैं।

१३३ कीरइ—

प्राकृत भाषाओं में यह रूप संस्कृत के 'क्रियते' के रूप में प्रयुक्त होता है। 'कृ ञोर्हीरःोरी' (२ ९) से कृञ को कीर' होने पर तसितोरिदेतौ (७-१) से इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१३४ केहहं केत्तिम—

संस्कृत में परिमाणवाची 'कियत्' शब्द के स्थान पर इनका प्रयोग होता है। 'परिमाणेकिमादिभ्यामस्ति केहहास' यह वार्तिक 'वाति क्लोस्सात कोत्तामनुग' (४ २५) पर है इससे कहादिमाग होकर ये रूप बनते हैं। सर्वमनुनभु नके' (५ ३) से सर्वत्र बिन्दु हो । है।

१३५ केरिसो—

कीदृश शब्द का यह रूप बनता है। 'एनीडापीड कीदृगीदृशेष' (१ १९) से ए होने पर इदादित्यादिष्व' (१ ३१) से ऋ को रि होने पर 'शषो स' (२ ४३) से श् को स होने पर 'अत ओत् सो' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

वाई दाई खोल्लं 'बोल्लं नच्चं रोल्लं वल्लं वेल्लं' (७ ११) से गम्मं आदेश होने पर यह रूप बनता है।

१४३ गडे—

संस्कृत में क्त प्रत्यय के योग में गम् धातु से 'गत' रूप बनता है उसी का 'गडे' रूप होता है। 'हम् मृज गमां क्तस्यड:' (११ १५) से क्त को ड होने पर 'अन्त्य हल:' (४ ६) से म् का लोप होने पर 'अत इदेतौलुक्च' (११ १) से ए होने पर 'गडे' रूप बनता है।

१४४ गड्डो—

इसकी मूल प्रकृति 'गर्त' है जिसका अर्थ 'गड्ढा' है। सर्वप्रथम 'गर्ते ड:' (३-२१) से र्त को ड होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५) से ड को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सो:' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१४५. गडुअ—

संस्कृत मे गम् धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय होने पर 'गत्वा' रूप बनता है उसी का 'गडुअ' रूप बनता है। 'क्त्वगमोर्डुअ' (१२ १) से 'डुअ' होने पर 'अन्त्यहल' (४ ६) से म् का लोप होने पर यह प्रयोग बनता है। हेमचन्द्र के अनुसार 'क्त्वगमो ड डुअ' (हेमचन्द्र) से डुअ होने पर 'गडुअ' यह रूप भी बनता है।

१४६ गब्भिणं—

इसकी मूल प्रकृति 'गर्भितम्' है। 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५) से भ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) से पूर्व भ को ब होने पर '[illegible]' (२ १) से त को ण होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

१४७ गम्मइ, गमीअइ, गमिज्जइ—

गम् धातु का कर्म वाच्य में गम्यते बनता है उसी का गम्मइ रूप होता है। 'यमादीनां द्वित्वं वा' (८ ३८) से म् को विकल्प से द्वित्व होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है। ति को इ होने पर म के अ तथा इ में स्वर सन्धि नहीं होती क्योंकि 'स्वरस्य' (हेमचन्द्र) से स्वर सन्धि का निषेध होता है जिस पक्ष में द्वित्व नहीं होता

(१ ११) से तूर्ण होने पर पूर्ववत् द्वित्व होने पर पूर्व सूत्र से घेत् होने पर 'घेत्तूर्णं' रूप बनता है।

१५४ घेत्तु—

यह रूप संस्कृत के 'गृहीतुम्' का बनता है। 'घेत् क्त्वा तुमुन्तव्येषु' (२ ११) से घेत् होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (१ ५) से त् को द्वित्व होने पर 'मो बिन्दुः' से बिन्दु होने पर घेत्तुं होता है।

१५५. घेत्तव्वं—

तव्यत् प्रत्यय के योग में 'गृहीतव्यम्' रूप बनता है 'घेत् क्त्वा तुमुन्तव्येषु' (८-११) से घेत् होने पर क 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ २) से य् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (१ ५) से त् को द्वित्व होने पर 'अधो मनयाम्' (१ १) से य् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (१-५), व व को द्वित्व होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५) से बिन्दु होने पर 'घेत्तव्वं' रूप बनता है।

१५६ घोलइ—

संस्कृत में घुर् या घूर्ण धातु से 'घूर्णति' रूप बनता है। 'घुरो घोल' (८ ६) से घोल् होने पर 'तथिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्राकृत रूप बनता है।

१५७ चोद्दही, चउद्दही—

इसकी मूल प्रकृति 'चतुर्दशी' है 'चतुर्थी चतुर्दश्योस्तुना' (१ ९) से 'चतु' को चो होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ (१ ५) से द् को द्वित्व होने पर दशादिषु ह (२ ४४) से श को ह होने पर 'चोद्दही' रूप बनता है। चतु को चो विकल्प से होने से जिस पक्ष में चो नहीं होता वहां सर्वत्र लवराम् (१ १) से र् का लोप होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ से त का लोप होने पर पूर्ववत् 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ (१ ५) से द् को द्वित्व होने पर 'दशादिषु हः' (२ ४४) से श को ह होने पर 'चउद्दही' रूप बनता है।

१५८ चऊहिं—

यह शब्द 'चतुर्भिः' से बना है। सर्वत्र लवराम् (४ १) से र् का लोप होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ २) से त का लोप होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५ १२ से दीर्घ होने पर 'भिसो हिं' (५ ५) से 'भिः' को हिं होने पर चऊहिं रूप बनता है।

१६६ चिट्ठन्ति—

तिष्ठन्ति के स्थान पर यह प्रयोग होता है। स्था को 'स्थश्चिट्ठ' (१२ १९) से 'चिट्ठ' होने पर 'न्तिहेत्थामोमुमावहुव' (७ ४७) से न्ति होने पर यह प्रयोग बनता है।

१६७ घुमइ—

घूर्णति के स्थान पर इसका प्रयोग होता है। 'घूर्णेर्घुमः' (८-७१) से घ होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से इ होने पर यह रूप बनता है।

१६८ छिंदइ—

छिदिर् धातु से संस्कृत में छिनत्ति रूप बनता है उसी का प्राकृत में 'छिंदइ' रूप होता है। 'भिदिच्छिदोरन्त्यस्य न्दः' (८ ३८) से 'न्द' होने पर 'वक्रादिष्वन्तः' (४ १७) से बिन्दु होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७ १) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

१६९ जत्तो, जदो—

यद् शब्द से संस्कृत में 'यस्मात्' रूप बनता है उसी का प्राकृत में 'जत्तो, जदो' बनते हैं। 'त्तो दो ङसेः' (६ ९) से त्तो तथा दो प्रत्यय होते हैं तथा 'आदेर्यो जः' (२ ३१) से य को ज होने पर ये रूप बनते हैं।

१७० जंपइ—

इसकी मूल प्रकृति 'जल्पति' है जिसका अर्थ कहना होता है। 'जल्पेर्लोपः' (८-२४) से ल् को प् होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७ १) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

१७१ जमामइ—

संस्कृत में 'जृम्भिगात्रविनामे' इस धातु से 'जृम्भते' रूप बनता है उसी का प्राकृत में यह रूप है। 'जृम्भो जंभाअः' (८ १४) से 'जंभाअ' यह आदेश होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१७२ जम्मो—

इसकी मूल प्रकृति जन्म है। 'न्मोमः' (३ ४३) से न्म को म होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५०) से म को द्वित्व होने पर 'समासेष्वपुंसु...' (४ १२) से पुल्लिंग होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

१५९ चत्तारो, चत्तारि—

संस्कृत के 'चत्वारः' के स्थान पर ये दोनों रूप बनते हैं। 'चतुरश्चत्तारो चत्तारि' (६-५८) से चत्तारो तथा चत्तारि होने पर 'जस्शसोर्लोपः' (५ २) से जस् तथा श स् का लोप होने पर ये रूप होते हैं।

१६० चतुण्हं, चउण्हं—

संस्कृत के 'चतुर्णाम्' का यह रूप बनता है। 'ष्वामामोण्हं' (६ ५९) से आम् को 'ण्हं' होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (४ १) से र् का लोप होने पर यह प्रयोग बनता है। 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२ २) से त् का लोप प्राय होने पर 'चउण्हं' रूप भी बनता है।

१६१ चमर, चामरं—

इसकी प्रकृति 'चामरम्' है। 'अदातो यथादिषु वा' (१) से विकल्प से आ को अ होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर ये दोनों प्रयोग बनते हैं।

१६२ चंपइ—

संस्कृत में 'चर्व अदने' इस धातु से 'चर्वयति' रूप बनता है उसी का 'चंपइ' रूप होता है। 'चर्वश्चंपः' (८ ६५) से चर्व को चंप होता है और 'तिप्तिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर चंपइ रूप बनता है।

१६३ चल्लइ चलइ—

ये दोनों रूप 'चलति' के बनते हैं। 'स्फुटिचलयोः' (८ ५३) से ल को विकल्प से द्वित्व होने पर 'तिप्तिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

१६४ चिट्ठदि—

स्था धातु से संस्कृत में 'तिष्ठति' रूप बनता है। उसी का प्राकृत भाषा में यह प्रयोग होता है। 'स्थश्चिट्ठः' (१२ १६) से स्था को 'चिट्ठ' होने पर 'ति' के त को 'अनादावयुजोस्तथयोर्दधौ' (१२ ३) से त को द होने पर यह रूप बनता है।

१६५ चिष्ठदि—

तिष्ठति का मागधी में यह रूप बनता है। पहले 'स्थश्चिट्ठः' (१२ १६) से स्था को चिट्ठ होने पर 'चिट्ठस्य चिष्ठः' (११ १४) से चिट्ठ को चिष्ठ होने पर अनादावयुजोस्तथयोर्दधौ (१२ ३) से त को द होने पर यह रूप बनता है।

१७९ जिणइ—

'जि जये' इस धातु से संस्कृत में जयति रूप बनता है उसी का 'जिणइ' प्राकृत रूप है। सर्वप्रथम 'म हु जि धू धुवांणोऽन्त्ये ह्रस्व' (८ ५६) से ण होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर 'जिणइ' रूप बनता है।

१८० जिव्वइ, जिणिज्जइ—

जि धातु से 'भावकर्मणोर्व्वश्च' (८ ५७) से व्व तथा ज दोनों होते हैं अत प्रथम 'व्व' होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर 'जिव्वइ' रूप बनता है पर जिस पक्ष में व्व नहीं होता वहाँ 'मुहुजिधुधुवां-णोऽन्त्ये ह्रस्व' (८ ५६) से ण होने पर 'एच क्त्वा तुमुन् तव्यभविष्यत्सु' (७-३३) से अ को इ होने पर 'मध्ये च' (७ २१) से मध्य में ज्ज होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर 'जिणिज्जइ' रूप बनता है।

१८१ जिणा, जेण—

यद् शब्द से टा प्रत्यय होने पर ये दोनों रूप बनते हैं। 'इदमेतत्किं-यत्तद्भ्यष्टाइणा' (६ ३) से 'इणा' होने पर 'सन्धावचामज्लोपविशेषा बहुलम्' (४ १) से य के अ का लोप होने पर 'अन्त्यस्य हल' (४ ६) से द् का लोप होने पर 'आदेर्यो ज' (२ ३१) से य को ज् होने पर 'जिणा' रूप बनता है पर जिस पक्ष में इणा नहीं होता वहाँ 'टामोर्ण' (५ ४) से ण होने पर 'एच सुप्यङि ङसोः' (५ १२) से ए होने पर पूर्ववत् य को ज होने पर 'जेण' रूप बनता है।

१८२ जिस्सा, जीसे, जीआ, जीए, जीअ—

यद् शब्द से ङस् विभक्ति में स्त्रीलिंग में ये रूप बनते हैं। 'ङस् स्सा से' (६ ६) से स्सा तथा से होने पर 'आदेर्यो ज' (२ ३१) से य को ज होने पर तथा 'सन्धावचामज्लोपविशेषा बहुलम्' (४ १) से दीर्घ होने पर जिस्सा तथा 'जीसे' रूप बनते हैं। शेष रूप 'टा ङस् ङीनामिदेददातः' (५ २२) से इत् एत् अत् आत् तथा 'आदीतौ बहुलम्' (५ २४) से स्त्रीलिंग में आप् होने पर बनते हैं।

१८३ जुग्गं—

इसकी मूल प्रकृति 'युग्मम्' है 'अधोमनयाम्' (३ २) से म् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से ग् को द्वित्व होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

१६१ ठाअस्ति—

संस्कृत में स्था धातु से तिष्ठन्ति रूप बनता है उसी का 'स्थाष्ठा थक्क ठाव, ठाअ चाअ' (८ २५) से ठाअ होने पर यह रूप बनता है ।

१६२ ठिअं—

संस्कृत के स्थितम् का यह रूप है 'ठासामासत्व वर्तमान भविष्यत् विध्या-द्येक वचनेषु' (८ २६) से स्थ को ठ होने पर 'क ग च ज त द प यवां प्रायो लोपः' (२ २) से त् का लोप होने पर 'सोबिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है ।

१६३ धणवइ—

यह प्रयोग धनपति के रूप में प्रयुक्त होता है । 'धनोरः' (१ २७) से ध को ध होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न् को ण होने पर 'पचो वकगुत्वोः' (८ ४७) से प्रत्यय होने पर 'तसिपोरिदेतौ' (७ १) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है ।

१६४ णत्थि—

इसकी मूल प्रकृति 'नास्ति' है । 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न को ण होने पर 'स्तस्य थः' (३ १२) से 'स्त' को थ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से थ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) से पूर्व थ को त् होने पर यह रूप बनता है ।

१६५ णडो—

यह शब्द 'नटः' से बना है । 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न को ण होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर 'टोडः' (२ २) से ट को ड होने पर यह रूप बनता है ।

१६६ णाहलो—

यह शब्द 'नाहल' से बना है । 'नाहले ल' (२ ४) से पहले न को ण होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है ।

१६७ णिअच्छइ—

संस्कृत में 'दृशिर प्रेक्षणे' धातु है उसी का यह रूप बनता है । 'दृशेः पुलअ णिअच्छ अवअच्छा' (८ ६९) से 'णिअच्छ' होने पर 'तसिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है । हेमचन्द्र के अनुसार 'दृशेर्नीअ पुलअ णिअ अवअच्छा' (हेमचन्द्र) से णीअइ पुलअइ, णिअइ अवअच्छइ रूप बनते हैं ।

पानीयादिषु' (१ १८) से ई को इ होने पर 'मो बिन्दु' (४ १२) से बिन्दु ( ) होने पर यह रूप बनता है।

२०४ तइअं—

इसकी मूल प्रकृति तृतीयम् है। सर्वप्रथम 'ऋतोऽत्' (१ २) से ऋ की अ होने पर कगचज तद पयवां प्रायो लोपः' (२ २) से ती के त् तथा य् का लोप होने पर इदीत पानीयादिषु (१ १८) से ई को इ होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२०५ त, तुम—

युष्मद् शब्द से सु विभक्ति में 'युष्मदस्तं तुमं' (६ २६) से तं तथा तुमं आदेश होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२०६ तु, तुमं—

युष्मद् शब्द से अम् विभक्ति मे 'तु चामि' (६-२७) से तु तथा तुमं आदेश होते हैं।

२०७ तुज्झे, तुम्हे—

युष्मद् शब्द से जस् विभक्ति में 'तुज्झे तुम्हे जसि' (६ २८) से विकल्प से ये दोनों प्रत्यय होने पर तुज्झे तथा तुम्हे आदेश होते हैं।

२०८ भो—

युष्मद् शब्द से जस् विभक्ति मे 'भोच्छसि' (६ २९) से भो आदेश विकल्प से होता है तब यह रूप बनता है अन्यथा तुज्झे और तुम्हे बनते हैं।

२०९ तइ, तए, तुमए, तुमे—

ये चारों रूप युष्मद् शब्द से टा तथा ङि विभक्ति में बनते हैं। टाङ्यो तइ तए तुमए तुमे' (६ ३ से तइ, तए, तुमए, तुमे आदेश होने पर ये चारों रूप बनते हैं।

२१० तुमो, तुह, तुज्झ, तुम्ह, तुम्म—

युष्मद् शब्द से ङस् विभक्ति मे 'ङसि तुमो तुह तुज्झ तुम्ह तुम्मा' (६ ३) से ये आदेश होने पर ये पांचों रूप बनते हैं।

२११ ते, दे—

युष्मद् शब्द से टा तथा ङस् में 'ताङि च ते दे' (६ ३२) से ते दे होने पर ये दो रूप बनते हैं।

१९८ णिक्कालो—

इसकी मूल प्रकृति 'निष्कालः' है। 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न् को ण होने पर 'उपरिलोपः क ग ड त द प षसाम्' (३ १) से ष् का लोप होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'सन्ध्यावसामम् लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) से आ को अ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वं अनादौ' (३ ५) से क को द्वित्व होने पर अत ओत् सोः से ओ होने पर यह रूप बनता है।

१९९ णिम्माणइ—

संस्कृत में इसके अर्थ में निर्मिति' का प्रयोग होता है। 'निरोमाङोमाण' (११) से निर उपसर्ग पूर्वक माङ माने धातु मे माण आदेश होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न् को ण होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वं अनादौ' (३ ५) से म् को द्वित्व होने पर तत्तिपोरिदेतौ (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२०० णिहित्तो णिहिओ—

इसकी मूल प्रकृति 'निहित' है। 'नोणः सर्वत्र (२ ४२) से न को ण होने पर 'सेवादिषु च' (३ ५८) से त् को विकल्प से द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः (५ १) से ओ होने पर 'णिहित्तो' यह रूप बनता है पर जिस पक्ष में द्वित्व नहीं होता वहां 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न को ण होने पर क ग च ज त द प य वां प्रायोलोपः (२ २) से त् का लोप होने पर अत ओत् सोः (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२०१ णो—

संस्कृत में अस्मद् शब्द से शस् (द्वितीया के बहुवचन) में अस्मान् और नः' ये दो रूप बनते हैं उन्हीं के स्थान पर प्राकृत भाषाओं में 'णो' होता है। 'णो शसि' (६ ४४) से 'णो' होने पर यह रूप बनता है।

२०२ णोल्लइ—

संस्कृत में 'नुद् प्रेरणे' इस धातु से नुदति या नुदते ये रूप बनते हैं। उन्हीं का प्राकृत भाषाओं में यह रूप है। नुदो णोल्लः' (८-७) से 'नुद' को 'णोल्ल' आदेश होने पर 'तत्तिपोरिदेतौ' (७-१) स ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

२०३ तआणि—

इसकी मूल प्रकृति 'तदानीं' है। 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२ २) से द् का लोप होने पर नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न् को ण होने पर 'इदीतः

(४ १२) से त के ऊपर बिन्दु होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से अन्त में बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२२१ तरइ, तीरइ—

संस्कृत में 'शकॢ शक्तौ' इस धातु से 'शक्नोति' रूप बनता है उसी के ये दोनों रूप बनते हैं। 'शकेस्तर चम तीराः' (८ ७) से 'तर' तथा 'तीर' होने पर 'तसिपोरिदेतौ' (७ १) से ति को इ होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२२२ तह, तहा—

इसकी मूल प्रकृति 'तथा' है। 'खघथधभांह' (२ २७) थ को ह होने पर 'अदातोयथादिषुवा' (१ १) से आ को अ विकल्प से होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२२३ तहिं, तंस्सि, तम्मि, तत्थ—

तद् शब्द से ङि विभक्ति में 'तस्मिन्' रूप बनता है। 'ङे हिं' (६-७) से ङि के स्थान पर हिं आदेश विकल्प से होता है अतः हिं होने पर 'तहिं' बनता है पर जिस पक्ष में हिं नहीं होता वहां 'ङ स्सिंम्मित्था' (६ २) से ये तीनों प्रत्यय होने पर तंस्सि तम्मि तत्थ ये तीनों रूप बनते हैं।

२२४ तहि, तहि—

ये दोनों रूप 'तर्हि' के बनते हैं जिसका अर्थ 'तो' होता है। 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर 'मांसादिषुवा (४ १६) से विकल्प से बिन्दु होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२२५ ता, ताव—

ये दोनों रूप 'तावत्' के बनते हैं। 'यावदादिषुवस्य' (४ ५) से व का लोप विकल्प से होने पर 'अन्त्यस्य हलः' (४ ६) से अन्तिम त् का लोप होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२२६ तारिसो—

इसकी मूल प्रकृति 'तादृश' है 'इदृष्यादिषु' (१ ११) से ऋ को रि होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायोलोपः' (२ २) से द् का लोप होने पर 'शषोः सः' (२ ४३) से श् को स होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२२७ तास, तस्स—

संस्कृत में तद् शब्द से ङस् विभक्ति (षष्ठी के एकवचन) में तस्य रूप बनता है उसी के ये दोनों रूप प्राकृत भाषाओं में बनते हैं। 'किंयत्तद्भ्यो ङस

२१२ तुमाइ—

युष्मद् शब्द से टा विभक्ति में यह रूप भी बनता है। 'तुमाइ च' (६ ११) से तुमाइ आदेश होने पर यह रूप बनता है।

२१३ तुब्भेहि तुम्हेहि, तुम्मेहि—

युष्मद् शब्द से भिस् होने पर 'तुब्भेहि, तुम्हेहि, तुम्मेहि भिसि' (६ १४) से ये तीनों आदेश होते हैं।

२१४ तत्तो, तइत्तो, तुमाओ, तुमाउ, तुमाहि—

युष्मद् शब्द से ङसि विभक्ति में ये पाँचों रूप बनते हैं। 'तत्तो, तइत्तो तुमाओ तुमाउ, तुमाहि' (६ १५) से ये आदेश होने पर ये रूप बनते हैं।

२१५. तुम्हाहितो, तुम्हासुन्तो—

युष्मद् शब्द से पंचमी के बहुवचन भ्यस् में ये दोनों रूप बनते हैं। 'तुम्हाहितो, तुम्हासुन्तो भ्यसि' (६ १६) से ये दोनों आदेश होने पर ये प्रयोग बनते हैं।

२१६ वो, भे, तुब्भाण, तुम्हाणं—

युष्मद् शब्द से षष्ठी के बहुवचन आम् में ये चारों रूप बनते हैं। 'वोभे तुब्भाणं तुम्हाण चामि' (६ १७) से ये चारों आदेश होने पर ये प्रयोग सिद्ध होते हैं।

२१७ तुमम्मि—

युष्मद् शब्द से ङि विभक्ति में 'ङौ तुमम्मि' (६ १) से तुमम्मि आदेश होने पर यह प्रयोग बनता है।

२१८ तुब्भेसु, तुम्हेसु—

युष्मद् शब्द से सुप् (सप्तमी के एक वचन) होने पर 'तुब्भेसु, तुम्हेसु सुपि' (६-१९) से ये दोनों आदेश होने पर ये प्रयोग बनते हैं।

२१९ ताहे तइआ—

ये दोनों रूप 'तदा' के बनते हैं। 'ताहे, इआ कालें' (६-८) से इआ और आहे होने पर ताहे तथा तइआ बनते हैं।

२२० तंसं—

इसकी मूल प्रकृति 'त्र्यस्र' है। 'सर्वत्रलवराम् (३ ३) से दोनों र् का लोप होने पर 'अधोमनयाम्' (३ २) से य का लोप होने पर 'वक्रादिषु'

सवराम् (१ १) से र् का लोप होने पर सोर्बिन्दुर्नपुंसके (५ १) से बिन्दु होने पर 'तुहरं' बनता है पर जिस पक्ष मे अ का लोप नहीं होता वहां 'तुहअरं' रूप होता है।

२३४ तुरं—

इसकी मूल प्रकृति 'तूर्य' है। 'तूर्यधैर्य सौन्दर्याश्चर्यपर्यन्तेषुरः (३ १८) से र्य को र होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ १) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२३५ तुसइ—

संस्कृत के तुष्यति का यह रूप है। 'समासीनां दीर्घता' (८ ४६) से व को दीर्घ होने पर 'शषोः सः' (२ ४३) से ष को स् होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायोलोपः' (२ २) से य् का लोप होने पर 'त्तिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर 'तुसइ' रूप बनता है

२३६ तेहहं, तेत्तिअं—

तावद् शब्द से ये दो रूप भी बनते हैं। 'परिमाणेकिमादिभ्योमवन्ति के इहावद यह वार्तिक को कि आत्रिवत्तोत्तिलाभव त्तेत्तामतुपः (४ २५) पर है उससे वह और तिअ आदि प्रत्यय होने पर ये रूप बनते हैं।

२३७ तेरह, तेरहो—

ये दोनों संस्कृत के 'त्रयोदश' से बने हैं जिसका अर्थ १३ है। 'सर्वत्रलवराम् (१ १) से त्र के र् का लोप होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायोलोपः (२ २) से य् का लोप होने 'सन्ध्यावचामज्लोपविशेषा बहुलम् (४ १) से यो के ओ का भी लोप होने पर 'एतस्यादिषु' (१ ५) से त् के बाद ए होने पर 'संख्यायाञ्च (२ १४) से द को र् होने पर 'दशादिषु हः' (२ २४) से श् को ह होने पर 'तेरह' रूप बनता है। जहां ओ का लोप नहीं होतावहां तेरहो रूप बनता है।

२३८ तेसिं, ताण—

ये दोनों रूप संस्कृत के क्रमशः तेषाम् तथा तासाम् के बनते हैं। तेसिं में आम एसिं' (६ ४) से 'एसिं होने पर तद् के द् का लोप अन्त्यहलः (४ ६) से होता है और 'सन्ध्यावचामज्लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) से अ का लोप होने पर यह रूप बनता है। ताण' में 'डामोण' (५ ४) से आम् को ण होने पर 'जसशसङस्यादु दीर्घः (५ ११) से दीर्घ होने पर 'ताण' रूप बनता है।

२३९ तत्तो, तदो—

ये दोनों रूप तद् शब्द से ङसि में बनते हैं। 'त्तोदोङसे' (६ ९) से त्तो दो होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२४७ दुइअं—

इसकी मूल प्रकृति 'द्वितीयम्' है। 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) से व का लोप होने पर 'सन्ध्यावचामज्लोप विशेषाबहुलम्' (४ १) से इ को उ होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायोलोपः' (२ २) से त् का लोप होने पर 'इदीतः पानीयादिषु' (१ १८) से ई को इ होने पर क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः (२ २) से य् का भी लोप होने पर 'सोर्बिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२४८ दो—

संस्कृत में 'द्वि' शब्द से 'द्वौ' बनता है उसी का प्राकृत में 'दो' रूप होता है। 'द्वेर्दो' (६ ५४) से दो आदेश होने पर यह रूप होता है।

२४९ दोहिं—

द्वि शब्द से भिस् होने पर 'द्वेर्दो' (६ ५४) से दो होने पर 'भिसोहिं' (५ ५) से भिस को हिं होने पर 'दोहिं' रूप बनता है।

२५० दुवे, दोण्णि—

ये दोनों रूप भी 'द्वौ' के बनते हैं। 'द्वेर्दुवेदोण्णिवा' (६ ५७) से 'दुवे' तथा 'दोण्णि' आदेश होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२५१ दोहाइअं, दुहाइअं—

ये दोनों रूप 'द्विधाकृतम्' से बनते हैं। सर्वप्रथम 'ओच्चद्विधाकृञः' (१ १९) से द्वि की इ को विकल्प से ओ होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से व् का लोप होने पर 'खघथधभाम् ह' (२ २७) से ध को ह होने पर कृतम के क तथा त् का लोप क ग च ज त द पयवां प्रायोलोप (२ २) से होने पर 'इदृष्यादिषु' (१ २८) से ऋ को इ होने पर 'दोहाइअं' रूप बनता है और जिस पक्ष में ओ नहीं होता वहां 'ओच्चद्विधाकृञः' (१ १९) इसी सूत्र से द्वि की इ को उ होने पर शेष कार्य पूर्ववत होने पर 'दुहाइअं' रूप बनता है।

२५२ दोहाइज्जइ दुहाइज्जइ—

ये दोनों रूप 'द्विधाक्रियते' के बनते हैं। इसमें 'क्रियते' के यक को 'यक्ईअइज्जौ' (७ ८) से इज्ज होने पर 'सन्ध्यावचामज्लोप विशेषाबहुलम्' से (४ १) कि के इ का लोप होने पर 'सर्वत्रलवराम' (३ ३) से र् का लोप होने पर क ग च ज त द पयवां प्रायोलोप (२ २) से क का लोप होने पर 'तेतिपोरिदेतौ' (७-१) से ते को इ होने पर ये दोनों रूप बनते हैं। दोहा तथा दुहा रूप 'दोहाइअं' के समान बनते हैं अर्थात् 'ओच्चद्विधाकृञः' (१ १९) से

२४० थिपइ—

संस्कृत में 'तृप तृप्तौ' धातु से तृप्यति रूप बनता है, प्राकृत में उसी का थिपइ बनता है। 'तृपस्थिपः' (८ २२) से थिप होने पर 'तदिदोरितेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२४१ देमि, दइस्स—

संस्कृत में दा धातु से वर्तमान काल (लट्) में ददामि रूप बनता है उसी का प्राकृत में 'देमि' होता है। 'ददातेर्दे दइस्समिति' (१२ १४) से 'दे' होने पर 'देमि' बनता है और इसी सूत्र से लृट में (भविष्यत् काल मे) दा धातु से जिसका संस्कृत में दास्यामि बनता है 'दइस्सं' होने पर यह रूप बनता है।

२४२ दच्छं—

संस्कृत मे 'द्रक्ष्यामि' रूप बनता है। उसी का दच्छं बनता है। 'श्रुगमु वचिदृशि छिदि भिदि कृञादीनां काहं दाहं सोच्छं वोच्छं गच्छं रोच्छं दच्छं वेच्छं' (७-१६) से दच्छं होने पर यह प्रयोग बनता है।

२४३ दाऊण, दातून—

दा धातु से क्त्वा प्रत्यय होने पर संस्कृत में 'दत्त्वा' रूप बनता है उसी का यह रूप बनता है। क्त्वस्तूण (४ २३) से तूण होने पर 'दाऊण' रूप बनता है। पैशाची प्राकृत में 'क्त्वस्तूनं' (१० १३) से 'तून' होने पर 'दातून' रूप बनता है।

२४४ दाहं—

यह रूप दास्यामि' का बनता है 'श्रुगमुरुदि वचिदृशि छिदि कृञादीनां काहं दाहं सोच्छं वोच्छं गच्छं रोच्छं दच्छं वेच्छं' (७ १६) से 'दाहं' होने पर यह रूप बनता है।

२४५. दिण्णं—

'डुदाञ् दाने' धातु से क्त प्रत्यय के योग में 'दत्तम्' रूप बनता है उसी का प्राकृत में 'दिण्णं' होता है। 'क्तेनाप्फुण्णादयः' (८ ६२) से 'दिण्णं' शब्द निपातित होता है।

२४६ दड्ढं—

दह धातु से संस्कृत मे 'दग्धं' रूप बनता है उसी का 'क्तेनाप्फुण्णादयः' (८-६२) से 'दड्ढं' यह निपात इसी अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

रिवेतो' (७ १) से ति को इ होने पर 'मुमइ' रूप बनता है। मुमिम्मइ में 'भ्रुमिलिपुर्वाबोऽन्ये ह्रस्व' (२ ३६) से म होने पर 'ए भ तथा मुमुद् सम्यमविध्यसु' (७-११) से भ को इ होने पर 'मभ्वेभ' (७-२१) से मध्य में ज्ज होने पर 'ततिपोरिरेतो' (७ १) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२६० पखलो—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रखल' है। 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से र का लोप होने पर 'अत ओत् सोः (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२६१ पडइ—

इसकी मूल प्रकृति 'पतति' है। 'ऋत्वादिषु तो दः' (८ ५१) से त को ड होने पर 'ततिपोरिरेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२६२ पडि—

इसकी प्रकृति 'प्रति' है। 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से र का लोप होने पर प्रतिसरवेतसपताकासु ड' (२-८) से त को ड होने पर 'पडि' बनता है।

२६३ पढमो—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रथम' है। सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से र का लोप होने पर प्रथमशिथिलनिषधेषु ढः' (२ २८) से ढ होने पर 'अत ओत् सोः (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२६४ पण्णरहो—

इसकी मूल प्रकृति 'पञ्चदश' है जिसका अर्थ १५ है। सर्वप्रथम पञ्चाशत्पञ्चदशदत्तेषु (३-४४) से ण होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५१) से ण् को द्वित्व होने पर 'संख्यायाञ्च' (२ १४) से द को र होने पर दशादिषु ह (२ ४४) से श को ह होने पर 'अत ओत् सोः (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२६५. पभवइ—

इसकी मूल प्रकृति प्रभवति' है यह रूप भू धातु से बनता है। प्रादेर्भव' (८ ३) से भू को भव होने पर सर्वत्र लवरां' (३ ३) से प्र के र् का लोप होने पर ततिपोरिरेतो' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२६६ पमिस्सइ, पमीसइ—

इसकी मूल प्रकृति प्रमीलति' है। 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर 'ह्रस्व संयोगे (हेमचन्द्र) से मी को मि होने पर 'प्रादेर्मील'

विकल्प से ओ तथा व होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) से व् का लोप होने पर 'खघथधभां हः' (२ २७) से ध को ह होने पर दोहा तथा दुहा रूप बनते हैं।

२५३ घुमइ—

'घूर्ण परिवर्तने' इस धातु से संस्कृत में घूर्णते या घूर्णति रूप बनते हैं उन्हीं का 'घुमइ' रूप बनता है। 'घूर्णोघुमः' (८-८) से 'घुम' होने पर 'तथिपोरिदेतौ' (७-१) से ति या ते को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

२५४ धे—

धा धातु से धे रूप बनता है। 'दधातेर्दहस्सानुरि' (१२ १४) से धे आदेश होने पर यह रूप बनता है।

२५५. दोण्हं—

द्वि शब्द से आम विभक्ति में यह रूप बनता है। सर्वप्रथम 'द्वेर्दो' (६ ५४) से द्वि को दो होने पर 'एषामामोण्हं' (६ ५६) से ण्हं होने पर दोण्हं रूप बनता है।

२५६ धाइ धाहिइ, धाउ—

'धावु गतौ' इस धातु से क्रमशः वर्तमान भविष्यत् तथा विधि आदि में ये तीनों रूप बनते हैं। 'धाविपाप्यो धाः' (२७) से धा आदेश होने पर 'तथिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर 'धाइ' रूप बनता है। 'धाहिइ' में 'धातोर्भविष्यति हिः' (७-१२) से हि होने पर 'तथिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर 'धाहिइ' रूप बनता है। धाउ में 'तु सु मु विध्यादिष्वेकस्मिन्' (७-१८) से उ होने पर 'धाउ' बनता है।

२५७ धुणइ—

'धूञ् कम्पने' इस धातु से संस्कृत मे 'धुनोति' यह रूप बनता है उसी का 'धुणइ' रूप बनता है। 'धुधुविसृधुणामोऽस्ये ह्रस्व' (५६) से ण होता है और धू को धु होता है 'तथिपोरिदेतौ' से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२५८ धुम्मसि—

यह प्रयोग 'घूर्णसे' का बनता है। 'भावकर्मणोर्म्मश्च' (५७) से र्ण को म्म होने पर 'थास्सिपोः सि से' (७-२) से सि होने पर यह प्रयोग बनता है। 'ह्रस्वः संयोगे' (हेमचन्द्र) से ह्रस्व होता है।

२५९ घुम्मइ घुणिज्जइ—

ये दोनों रूप 'घूर्णते' के बनते हैं। 'भाव कर्मणोर्म्मश्च' (८ ५७) से म्म होने पर 'ह्रस्वः संयोगे' हेमचन्द्र (-८ २१७) से ह्रस्व होने पर 'तथिपो

२७३ पुलअइ—

इसकी मूल प्रकृति 'पश्यति' है। 'दृशे पुलअ निअच्छ अवक्खा' (८ ६९) से 'पुलअ' होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७ १) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२७४ पुलिशाह, पुलिशश्श—

मागधी प्राकृत में 'पुरुषस्य' के ये दोनों रूप बनते हैं। 'रसोर्लशौ' (हेमचन्द्र) के अनुसार र् को ल होने पर 'उत इदेतौलुकचे' (११ १) से उ को इ होने पर 'षसोः शः' (११ ३) से ष को श होने पर 'ङसो हो वा दीर्घत्वं च' (११ १२) से ङस् को ह होने पर तथा दीर्घ होने पर 'पुलिशाह' रूप बनता है। पर जिस पक्ष में ङस् को ह नहीं होता वहाँ 'स्सोस्स' (५-८) से स्स होने पर 'षसोः शः' (११ ३) से दोनों स् को श होने पर शेष कार्य पूर्ववत् होने पर 'पुलिशश्श' रूप बनता है।

२७५ पुस्सो पुसो—

इसकी मूल प्रकृति 'पुष्य' है। 'अधो मनयाम्' (३ २) से य् का लोप होने पर 'शषोः सः' (२ ४३) से ष को स् होने पर 'शेषादेशस्य' (३ ५२) से विकल्प से स् को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर 'पुस्सो' तथा 'पुसो' ये दो रूप बनते हैं।

२७६ पेक्ख, पेक्खइ—

संस्कृत में 'दृशिर् प्रेक्षणे' धातु है उससे पश्यति या प्रेक्षते रूप बनते हैं यहाँ के शौरसेनी तथा महाराष्ट्री प्राकृत में ये रूप बनते हैं। 'दृश पेक्ख' (१२ १८) से दृश् को पेक्ख होने पर संस्कृत के 'भाव' में जिस प्रकार हि का लोप हो जाता है उसी प्रकार शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत होने से 'प्रेक्ष्व' में भी हि का लोप होने पर 'प्रेक्ष' का 'पेक्ख' बनता है और 'पेक्खइ' में 'ततिपोरिदेतौ' (७ १) से ति को इ होने पर 'पेक्खइ' रूप बनता है।

२७७ भमइ—

इसकी प्रकृति 'भ्रमति' है। '[illegible]' (८ ७१) से 'भमति' होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७ १) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२७८ मरइ—

'स्मृ चिन्तायाम्' इस धातु से संस्कृत में स्मरति रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'भरइ' रूप होता है। 'स्मरतेर्भर सुमरौ' (८ १८) से

(१ १४) से न को विकल्प से द्वित्व होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७ १) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२६७ परिमवइ—

इसका संस्कृत रूप 'परिभवति' बनता है। 'भोर्भव' (८ १) से भू को भव होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२६८ पसुसइ—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रशुष्यति' है। 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से प्र के र् का लोप होने पर 'शषोः सः' (२ ४३) से ष् तथा श् को स होने पर 'अधोमनयाम्' (३-२) से य् का लोप होने पर 'स्वरादीनां दीर्घता' (७-४६) से उ को ऊ होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२६९ पवणुद्धर्य, पवणउद्धयं—

ये दोनों रूप 'पवनोद्धतम्' के बनते हैं। 'नोणः सर्वत्र' (२ ४२) से न को ण होने पर 'सन्ध्यावचामज् लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) से ण के अ का लोप विकल्प से होने पर उद्धत के त् का लोप 'क ग च ज त द प य वां प्रायोलोपः' (२ २) से होने पर 'नीबिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२७० पाइ, पाअइ—

संस्कृत में 'प्रापल्पप्राप्ते' इस धातु से 'पिबति' रूप बनता है उसी के ये दोनों रूप बनते हैं 'पिबतेः पा पाओ' (२) से पा तथा पाअ आदेश होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२७१ पालेइ—

संस्कृत में 'पालति' का यह रूप बनता है। 'पटेर्पालः' (१) से पाल होने पर 'आदेदेवा' (७ १४) से ए होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२७२ पिआपिअं—

इसकी मूल प्रकृति 'पीतापीतम्' है। 'क ग च ज त द प य वां प्रायोलोपः' (२ २) से दोनों त का लोप होने पर 'सन्ध्यावचामज् लोप विशेषा बहुलम्' (४ १) से पी की ई को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

२८४ मे, ममाइ—

अस्मद् शब्द से आङ (टा) विभक्ति में 'आङि मे ममाइ' (६ ५२) से मे ममाइ होने पर ये रूप बनते हैं।

२८५. मत्तो, मइत्तो, ममाओ, ममाउ, ममाहि—

अस्मद् शब्द से ङस् विभक्ति में ये पाँचों रूप प्राकृत भाषाओं में बनते हैं। मत्तोमइत्तो ममाओ ममाउ ममाहि ङसौ' (६ ४८) से ये पाँचों प्रत्यय होने पर तथा अन्त की विभक्ति का लोप होने पर ये रूप बनते हैं।

२८६ मे, मम, मह, मज्झ—

अस्मद् शब्द स ङ सि विभक्ति (पंचमी के एक वचन) में ये चारों रूप बनते हैं। 'मे मम मह मज्झ ङसि' (६ ५) से ये प्रत्यय होते हैं।

२८७ मज्झणो—

अस्मद् शब्द से आम् (षष्ठी के बहुवचन) में यह रूप होता है। 'मज्झणो अह्म महाणं अह्मे आमि' (६-५१) से मज्झणो' आदेश होने पर यह रूप बनता है।

२८८ ममम्मि—

अस्मद् शब्द सेङि विभक्ति में 'ममम्मि' रूप बनता है 'ममम्मि ङौ' (६-५२) से ममम्मि प्रत्यय होने पर यह रूप बनता है।

२८९ मरिसइ—

इसकी प्रकृति 'मृषति' है। 'मृष इव मृषवृषाघृतोमरि' (८ ११) से ॠ को अरि होने पर शषो स' (२-४२) से ष को स होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२९० मरइ

संस्कृत में 'मृ' धातु से 'म्रियते' रूप बनता है इसी का प्राकृत में यह रूप है। 'ऋतोऽरः' (२ १२) से ॠ को अर होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७ १) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२९१ मलइ—

मृद् धातु से संस्कृत में 'मृदति' रूप बनता है जिसका अर्थ धोना होता है उसीका यह रूप बनता है। 'ऋतोऽत्' (१ २७) से ॠ को अ होने पर 'दुरोल' (८ ५) से द् को ल होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७ १) से ति को इ होने पर 'मलइ' रूप बनता है।

'मर' आदेश होने पर 'तसियोरिचेचौ' (७-१) से ति को इ होने पर मइ रूप बनता है।

२७९ माइ—

संस्कृत में 'मिञ्‌ मानें' इस धातु से 'मिमेति' तथा 'मिमीते' ये दो रूप बनते हैं उन्हीं का 'माइ' प्राकृत भाषाओं में होता है। 'मिमो मानो हो' (८ १९) से 'मा' होने पर 'तसियोरिचेचौ' (७ १) से ति को इ होने पर 'माइ' रूप सिद्ध होता है।

२८० मिल्लइ—

'मिलिर्' धातु से संस्कृत में 'मिलति' रूप बनता है उसी का प्राकृत में 'मिल्लइ' रूप है। 'मिलिम्लायोरल्लस्यल्ल' (८ १८) से 'ल्ल' होने पर 'मिल्ल' बनता है फिर 'तसियोरिचेचौ' (७-१) से ति को इ होने पर 'मिल्लइ' रूप बना है।

२८१ मोत्तूण, मोत्तुं, मोत्तव्वं—

मुच् धातु से क्त्वा तुमुन् तथा तव्यत् प्रत्यय में ये तीनों रूप बनते हैं। 'मुचमीनां क्त्वा तुमुन् तव्येषु लोप' (२ ११) से मुच् के च का लोप होने पर 'मुवर्णस्यागुण' (हेमचन्द्र) इस सूत्र से मु के उ को भी गुण होने पर मो रूप बनता है 'उपरिलोप क ग ड तदपषसाम्' (३ १) से क्त्वा के क का लोप होने पर शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ (३ ५) से त को द्वित्व होने पर 'क्त्वा तूण' (४ २३) से तूण होने पर 'मोत्तूण' रूप बनता है। मोत्तुं में पूर्ववत् मो होने पर तथा 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५०) से त् को द्वित्व होने पर 'मो बिन्दु' (४ १२) से बिन्दु होने पर 'मोत्तुं' रूप बनता है। 'मोत्तव्वं' में पूर्ववत् मो होने पर 'अधोमनयाम्' (३ २) से य् का लोप होने पर शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ (३ ५) से त् तथा व् को द्वित्व होने पर तथा मो बिन्दु (४ १२) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२८२ मइ मए—

अस्मद् शब्द से टा तथा ङि विभक्ति में मया तथा मयि रूप बनते हैं उन्हीं के प्राकृत में ये रूप होते हैं। 'मि म मइ मए' (६ ४६) से मइ तथा मए होने पर ये रूप बनते हैं।

२८३ मं ममं—

अस्मद् शब्द से अम् विभक्ति में 'म ममं' (६-४२) से मं तथा ममं आदेश होने पर ये रूप बनते हैं।

२९८ रुवइ—

यह रूप 'रुदति' से बनता है। 'वरेर्व' (८ ४२) से द को व होने पर 'तवितिपीरिवेतो' (७ १) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

२९९ रूसइ—

यह प्रयोग रुष्यति का बनता है जिसका अर्थ क्रोध करना होता है। 'शाषोः स (२ ४१) से ष को स् होने पर 'अधोमनयाँ' (१ २) से य् का लोप होने पर 'स्वादीनांदीर्घता' (८ ४६) से दीर्घ होने पर 'ततिपोरिवेतो' (७ १) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

३०० रे—

संस्कृत मे भो! सम्बोधन आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'रे' भी होता है। रे अरे हिरे सम्भाषण रतिकलहाक्षेपेषु' (९ १५) से 'रे' निपातित होता है।

३०१ रोच्छं—

'रोदिष्यामि' संस्कृत के इस प्रयोग के लिए 'कृदाम् ,वचि,गमि,रुदि विदि दृशाम्ना काहं वाहं सोच्छं वोच्छं गच्छं रोच्छं दच्छं वेच्छं' (७ १६) इस सूत्र से रोच्छं आदेश होने पर यह प्रयोग बनता है।

३०२ रोत्तूण, रोत्तु , रोत्तव्वं—

रुदिर धातु से क्त्वा तुमुन् तथा तव्यत प्रत्यय होने पर क्रमशः ये तीनों रूप बनते हैं 'क्त्वादीनां तव्यातुमुन् तव्येषुलोप (८ ५८) से दिर का लोप होने पर पुगन्तलघूपधस्यगुण (हेमचन्द्र) से उ को ओ गुण होने पर 'उपरिलोपः कगडतदपषसाम्' (३ १) से क का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५०) से त् को द्वित्व होने पर 'क्त्वा ऊण' (४ २३) से ऊण होने पर 'रोत्तूण' रूप बनता है। रोत्तु में पूर्ववत् रो होने पर और 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ (३-५०) से त् को द्वित्व होने पर मोबिन्दुः' (४ १२) से बिन्दु होने पर रोत्तु रूप बनता है। रोत्तव्य में पूर्ववत् रो होने पर अधोमनयाम्' (३ २) से य का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ (३-५०) से त् तथा व् को द्वित्व होने पर 'मोबिन्दुः (४ १२ से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३०३ रोसाइन्तो—

इसकी प्रकृति 'रोषवत्' है। 'शषोः सः (२ ४३) से ष् को स होने पर 'आविल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणामतुपः' (४ २५) से 'इन्त होने पर आप्यायनादतामन् लोपविशेषा बहुलम् (४ १) से दीर्घ होने पर यह रूप बनता है।

२९८ रुवइ—

यह रूप 'रुदति' से बनता है। 'रुदो वः' (८ ४२) से द को व होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

२९९ रूसइ—

यह प्रयोग रुष्यति का बनता है जिसका अर्थ क्रोध करना होता है। 'शषोः सः' (२ ४३) से ष् को स् होने पर 'अधो मनयां' (३ २) से य् का लोप होने पर 'रुषादीनां दीर्घता' (८ ४६) से दीर्घ होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७ १) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

३०० रे—

संस्कृत में जो। सम्बोधन आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है उसी का प्राकृत भाषाओं मे 'रे' भी होता है। 'रे अरे हिरे सम्भाषण रतिकलहाक्षेपेषु' (९ १५) से 'रे' निपातित होता है।

३०१ रोच्छं—

'रोदिष्यामि' संस्कृत के इस प्रयोग के लिए 'कृदाश्रु,वचि गमि रुदि विदि रूपाणां काहं दाहं सोच्छं वोच्छं गच्छं रोच्छं दच्छं वेच्छं' (७ १६) इस सूत्र से रोच्छं आदेश होने पर यह प्रयोग बनता है।

३०२ रोत्तूण, रोत्तुं, रोत्तव्वं—

रुदिर धातु से क्त्वा तुमुन् तथा तव्यत् प्रत्यय होने पर क्रमशः ये तीनों रूप बनते हैं 'भुजादीनां क्त्वातुमुन् तव्येषु लोपः' (८ ५८) से दिर का लोप होने पर गुणस्य गुणः (हेमचन्द्र) से उ को रो गुण होने पर 'उपरिलोपः कगडतदपषसाम्' (३ १) से क का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से त् को द्वित्व होने पर 'क्त्वा तूण' (४ २३) से तूण होने पर 'रोत्तूण' रूप बनता है। रोत्तुं में पूर्ववत् रो होने पर और 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५) से त् को द्वित्व होने पर 'मोबिन्दुः' (४ १२) से बिन्दु होने पर 'रोत्तुं' रूप बनता है। 'रोत्तव्वं' मे पूर्ववत् रो होने पर 'अधो मनयाम्' (३ २) से य का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५) से त् तथा व् को द्वित्व होने पर 'मोबिन्दुः' (४ १२) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३०३ रोसाइन्तो—

इसकी प्रकृति 'रोषवत्' है। 'शषोः सः' (२ ४३) से ष को स होने पर 'आल्विल्लोल्लालवन्तेन्ता मतुपः' (४ २५) से इन्त होने पर 'सन्ध्यावचामज्लोपविशेषा बहुलम्' (४ १) से दीर्घ होने पर यह रूप बनता है।

१०४ लग्गति—

इसकी प्रकृति 'लगति' है। 'शकादीनां द्वित्वम्' (८ ५२) से द्वित्व होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

१०५ लिज्जइ—

इसकी मूल प्रकृति 'लिह्यते' है। 'लिहेर्लिज्जः' (८ ५९) से लिह् को 'लिज्ज' होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

१०६ सुणइ—

इसकी मूल प्रकृति 'शृणोति' है। सर्वप्रथम 'श्रुहुजिलूधुवां णोऽन्ते ह्रस्वः' (८ ५६) से अन्त में ण होने पर और शृ को सु होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

१०७ सुव्वइ सुणज्जइ—

इसकी मूल प्रकृति 'श्रूयते' है। 'भावकर्मणोर्व्वश्च' (८ ५७) से व्व होने पर तथा ह्रस्व होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७ १) से ति को इ होने पर 'सुव्वइ' रूप बनता है पर जिस पक्ष में व्व नहीं होता वहाँ ण होने पर 'यक्येज्ज' (७-११) से ज्ज होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर 'सुणज्जइ' रूप बनता है।

१०८ चअइ—

संस्कृत में 'शक्लृ शक्तौ' धातु से 'शक्नोति' रूप बनता है परन्तु 'चअइ' रूप भी प्राकृत भाषाओं में होता है। 'शकेस्तरचयतीराः' (८-७०) से 'चअ' आदेश होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७ १) से ति को इ होने पर 'चअइ' रूप बनता है।

१०९ वअं—

संस्कृत में अस्मद् शब्द से जस् विभक्ति में 'वयम्' बनता है उसी का प्राकृत में वअं रूप है। 'अस्मदो वअअंच' (१२ १५) से 'वअं' होने पर यह रूप बनता है।

११० वच्चइ—

इसकी मूल प्रकृति 'व्रजति' है। 'व्रजनृतमदां च्चः' (८ ४७) से च्च होने पर तथा 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से र का लोप होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

३११ वज्जइ—

संस्कृत में 'व्रजीउद्वेगे' धातु से 'व्रजति' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'वज्जइ' रूप है 'व्रजेवज्ज' (८ ६६) से व्रज् को वज्ज होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने यह रूप बनता है।

३१२ वड्ढइ—

वृधु वर्धने इस धातु से संस्कृत में वर्धते' रूप बनता है उसी का प्राकृत में यह रूप है। 'ऋतोऽत्' (१ २७) ऋ को अ होने पर वृधेर्ढः' (८ ४४) से ध को ढ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५) से ढ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) से पूर्व ढ को ड् होने पर 'ततिपोरिदेतौ (७ १) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

३१३ वरइ—

संस्कृत में 'वृञ्वरणे' इस धातु से वृणोति' तथा 'वृणुते' ये दोनों रूप बनते हैं उन्हीं का 'वरइ' रूप होता है। 'ऋतोऽर' (८ १२) से वृ को वर होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७ १) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

३१४ वले—

संस्कृत में अपि' सम्बोधन में निपात होता है उसी के लिये प्राकृत भाषाओं में 'वल' भी प्रयुक्त होता है। 'अइवले सम्भावने (१ १२) से यह शब्द निपातित है।

३१५. वाइ, वाअइ—

संस्कृत में 'म्लैहर्षक्षये इस धातु से म्लायति' रूप बनता है उसी के प्राकृत में ये दोनों रूप हैं। 'म्लै वा वाओ' (८ २१) से वा' तथा 'वाअ' आदेश होने पर ततिपोरिदेतौ (७-१) से ति को इ होने पर ये दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

३१६ वाऊहि—

संस्कृत के 'वायुभिः का यह प्रयोग बनता है। क ग च ज त द प य वां प्रायोलोपः (२ २) से य का लोप होने पर 'सुभिसुप्सु दीर्घ (५ १८) से दीर्घ होने पर 'भिसोहिं' (५ ५ से हिं होने पर यह रूप बनता है।

३१७ वाउस्स—

संस्कृत में वायोः के रूप का प्राकृत में यह रूप बनता है। क ग च ज त द प य वां प्रायोलोपः (२ २ से य का लोप होने पर 'ङसः स्स (५ ८) से स्स होने पर यह प्रयोग सिद्ध होता है।

१०४ लगति—

इसकी प्रकृति लगति' है। 'शाकादीनां द्वित्वम्' (
पर 'सतिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह

१०५ लिम्मइ—

इसकी मूल प्रकृति 'लिह्यते' है। 'लिहेर्लिम्म' (
'लिम्म' होने पर 'सतिपोरिदेतौ (७-१) से ति को इ
बनता है।

१०६ सुणइ—

इसकी मूल प्रकृति 'शृणोति' है। सर्वप्रथम 'श्रुहुजिलूधुवां
(८-५६) से अन्त में ण होने पर और शृ को सु होने पर
(७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

१०७ सुब्बइ, सुणिज्जइ—

इसकी मूल प्रकृति 'श्रूयते है। 'चादकर्मणोर्ध्वत्व' (८ ५७)
पर तथा ह्रस्व होने पर 'सतिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने प
रूप बनता है पर जिस पक्ष में ब्ब नहीं होता वहाँ ण होने पर 'यक्येर
से ज्ज होने पर 'सतिपोरिदेतौ' (७ १) से ति को इ होने पर 'सुण
बनता है।

१०८ चमइ—

संस्कृत में 'चमु भक्षणे' धातु से 'चमनोति' रूप बनता है जबकि
रूप भी प्राकृत भाषाओं में होता है। 'सर्वेस्वरवन्तीर. (८-७)
आदेश होने पर 'सतिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर
रूप बनता है।

१०९ वसं—

संस्कृत में अस्मद् शब्द से षष्ठ् विभक्ति में 'अस्मद्' बनता है
प्राकृत में वसं रूप है। 'अस्मदो वसात्कर्मच' (१२ २५) से 'वसं' होने
रूप बनता है।

११० वज्जइ—

इसकी मूल प्रकृति 'व्रजति है। 'व्रजेर्वज्जः' (८ ४७) से
पर तथा 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) से र का लोप होने पर 'सतिपो
(७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

धातु की विकल्प से मके होता है तथा 'ततिजोरिवेतौ' (७ १) से त को द होने पर 'विमकेइ' रूप बनता है पर जिस पक्ष में मके नहीं होता वहां किम् होता है और 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (१ ५) स क को द्वित्व होने पर 'ततिपो रिवेतौ' (७-१) से द होने पर यह रूप बनता है।

३२४ विसइ—

संस्कृत में 'ग्रसु ग्लसु अदने' इस धातु से आत्मने पद में 'ग्रसते' तथा 'ग्लसते' ये दो रूप बनते हैं उन्हीं में ग्रस धातु का प्राकृत भाषा में 'विसइ' रूप बनता है। 'ग्रसेर्विसः' (८ २८) से ग्रस के स्थान पर विस आदेश होता है और 'ततिपोरिवेतौ' (७ १) से इ होने पर यह प्रयोग सिद्ध होता है।

३२५ विसूरइ—

संस्कृत मे 'खिद् दैन्ये' इस धातु से 'खिद्यते' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषा में 'विसूरइ' रूप प्राप्त होता है। 'खिदेर्विसूरः' (८ ६१) से खिद् के स्थान पर 'विसूर' आदेश होता है और ततिपोरिवतौ' (७-१) से ते को इ होने पर 'विसूरइ' रूप बनता है।

३२६ वीहइ—

संस्कृत में 'ञिभी भये' इस धातु से बिभेति रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में वीहइ यह रूप होता है। सर्व प्रथम भियो भाबी हो' (८ १९) इस सूत्र से वीह' आदेश होता है और 'ततिपोरिवेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

३२७ बुज्झइ—

संस्कृत में 'बुध अवगमने' इस धातु से 'बुध्यते' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'बुज्झइ' रूप बनता है। सर्व प्रथम 'युधि बुध्योर्झः' (८ ४८) से ध्य के य् को झ होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (१ ५) से झ को द्वित्व होने पर वर्ग युजः पूर्वः' (३ ५१) से पूर्व के झ को ज् होने पर ततिपो रिवेतौ (७ १) से त को इ होने पर यह रूप बनता है।

३२८ बुड्डइ—

संस्कृत मे 'टुमस्जो शुद्धौ' इस धातु से मज्जति रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में बुड्डइ' रूप होता है। सर्व प्रथम 'मस्जे र्बुड्डः' (८ ६८) से बुड्ड आदेश होता है और 'ततिपोरिवेतौ (७ १) से ति को इ होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

३३४ वेवन्ती, वेवई—

संस्कृत में 'टवेपृ कम्पने' इस धातु से शतृ प्रत्यय के योग में 'वेपन्ती' रूप होता है उसी के प्राकृत भाषा में ये दो रूप बनते हैं। 'ई च स्त्रियाम्' (७ ११) से ई तथा न्त दो आदेश होते हैं और 'पोवः' (२ १५) से प् को व होने पर ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

३३५ वेवमाणा—

वेपृ धातु से शानच् प्रत्यय के योग में संस्कृत में 'वेपमाना' बनता है उसी का प्राकृत भाषा में यह रूप है। सर्वप्रथम 'ईच स्त्रियाम्' (७-११) से माण आदेश होने पर 'पोवः' (२ १५) से प् को व होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

३३६ वोच्छं—

संस्कृत के 'वक्ष्यामि' का यह रूप है। 'श्रुवादुवचिमुचि रुदिभिदि छिदां काहं दाहं सोच्छं वोच्छं मोच्छं रोच्छं छेच्छं भेच्छं' (७-१६) से वक्ष्यामि को वोच्छं आदेश होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

३३७ गहिदाणि—

संस्कृत में ग्रह धातु से क्त्वा प्रत्यय होने पर 'गृहीत्वा' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में यह रूप बनता है। सर्वप्रथम 'ऋतोऽत्' (११ १) से ऋ को अ होने पर 'एच क्त्वा तुमुन् तव्य भविष्यत्सु' (७३३) से इ होने पर 'क्त्वो दाणि' (११ १६) से क्त्वा को 'दाणि' आदेश होने पर 'गहिदाणि' रूप बनता है।

३३८ सविल्लइ—

यह संस्कृत के 'सविद्यते' का रूप बनता है। सर्वप्रथम 'जासमोर्जः' (८ ४१) से ष्य को ल होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५) से ल को द्वित्व होने पर 'तत्रिपोरिदेतौ' (७-१) से त को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

३३९ सक्कइ—

संस्कृत की इसकी मूल प्रकृति 'शक्नोति' है। 'शक्लृ शक्तौ' इस धातु से यह रूप बनता है। सर्वप्रथम 'शषोः सः' (२ ४३) से श को स होने पर 'शकादीनां द्वित्वम्' (८ ५२) से क को द्वित्व होने पर 'तत्रिपोरिदेतौ' (७ १) से इ होने पर यह रूप बनता है।

३४० सढइ—

इसकी मूल प्रकृति 'शीयते' है। 'शदल् शातने' इस धातु से यह रूप बनता है। सर्वप्रथम 'शषोः स' (२ ४३) से श को स होने पर 'सदतुपतयोर्ढः'

३२९ वेच्छं—

इसकी मूल प्रकृति 'वेत्स्यामि' है। 'श्रुगमु वचि मुचि रुदि विदि भुजाना काहं वच्छं सोच्छं मोच्छं गच्छं रोच्छं वच्छं वेच्छं' (७ १६) से वेच्छं आदेश होने पर यह रूप बनता है।

३३० वेढइ—

संस्कृत में 'वेष्ट वेष्टने' इस धातु से वेष्टते रूप बनता है जिसका अर्थ लपेटना होता है उसी का प्राकृत भाषाओं में यह रूप बनता है। सर्वप्रथम 'वेष्टेः' (८ ४) इस सूत्र से ष्ट् को ढ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से ढ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३ ५१) से पूर्व के ढ् को ड होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से त को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

३३१ वेत्तूण—

संस्कृत में विद् धातु से क्त्वा प्रत्यय होने पर 'विदित्वा' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'वेत्तूण' रूप होता है। विद् + क्त्वा इस अवस्था में संस्कृत के अनुरूप इ को गुण होने पर वे होता है तब 'सुगादीनां क्त्वा तुमुन् तव्येषु लोपः' (५५) से द् का लोप होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लुक्' (२ २) से क्त्वा के क का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३-५) से त् को द्वित्व होने पर क्त्वा के शेष वा को 'क्त्वा तूणः' (४ २३) से तूण होने पर 'वेत्तूण' यह रूप सिद्ध होता है।

३३२ वेत्तुं—

विद् धातु से तुमुन् प्रत्यय के योग में संस्कृत में वेदितुम् रूप बनता है उसी का प्राकृत में वेत्तुं रूप है। सर्वप्रथम गुण होने पर 'सुगादीनां क्त्वा तुमुन् तव्येषु लोपः' (५५) से द् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५) से त् को द्वित्व होने पर 'मो बिन्दुः' (४ १२) से म् को बिन्दु ( ) होने पर यह रूप बनता है।

३३३ वेत्तव्वं—

विद् धातु से तव्यत् प्रत्यय के योग में 'वेदितव्यम्' रूप बनता है। प्राकृत भाषाओं में उसी का यह रूप है। सर्वप्रथम संस्कृत के समान गुण होने पर वे हुआ तब 'सुगादीनां क्त्वा तुमुन् तव्येषु लोपः' (८ ५५) से द् का लोप होने पर 'अधोमनयाम्' (३-२) से य् का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३ ५) से त् तथा व् को द्वित्व होने पर 'मो बिन्दुः' (४ १२) से म को बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है

३४७ सहीअइ, सहिज्जइ—

ये दोनों रूप 'सह्यते' के बनते हैं। 'यक ईअ इज्जौ' (७-८) से यक् के स्थान पर 'ईअ' तथा 'इज्ज' आदेश होते हैं और 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से त को इ होने पर ये दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

३४८ सिं—

संस्कृत में तद् शब्द से आम् विभक्ति में तेषाम् तथा तासाम् रूप बनते हैं उन्हीं का प्राकृत भाषाओं में 'सिं' रूप भी होता है। 'आमासिं' (६ १२) से 'सिं' आदेश होता है।

३४९ सुत्तो—

यह रूप सुप्त का बनता है। 'उपरिलोप क ग ड तदप षसाम्' (३ १) से प् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३ ५) से त को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

३५० सुपइ—

संस्कृत में युध् युद्धौ इस धातु से 'मध्य' प्रयोग बनता है जिसका अर्थ युद्ध करना होता है उसी का यह रूप है। 'युधेर्जुज्झौ' (८ ६७) से सुप आदेश होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग सिद्ध होता है।

३५१ सुमरइ—

संस्कृत से स्मृ धातु से स्मरति रूप बनता है। प्राकृत भाषाओं में उसी का यह रूप है। 'स्मरतेर्भरसुमरौ' (८ १८) से सुमर आदेश होने पर 'ततिपो रिदेतौ' (७ १) से इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

३५२ सुम्वइ सुणिज्जइ—

ये दोनों रूप श्रूयते के बनते हैं। 'शषो' स (२ ४३) से श् को स होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से र का लोप होने पर शु का सु शेष रहता है तब 'श्रव कर्मकोर्व्वत्व' (८ ५७) से व का व्व होने पर 'ततिपोरिदेतौ (७-१) से त को इ होने पर यह रूप बनता है। व्व विकल्प से होता है जिस पक्ष में व्व नहीं होता वहाँ ण होता है 'भुह जिणू सुणांणोज्स्येलुस्च' (८ ५६) से ण होने पर ए व पाया सुणुन् तस्य भविष्यत्सु (७-११) से इ होने पर मध्येच (७-२१) से ज्ज होकर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से त को इ होने पर यह रूप बनता है।

(८ २१) से ऋ को इ होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से त को द होने पर यह रूप बनता है।

३४१ सरइ—

संस्कृत में 'सृ' धातु से 'सरति' रूप बनता है। उसी का यह रूप प्राकृत भाषाओं में होता है। सर्वप्रथम 'ऋवर्णस्यारः' (८ १२) से ऋ को अर् होने पर सर् होता है तब 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

३४२ सुणइ—

संस्कृत में 'श्रु श्रवणे' इस धातु से 'शृणोति' रूप बनता है। उसी का प्राकृत भाषाओं में 'सुणइ' रूप होता है। सर्वप्रथम 'शषोः सः' (२ ४३) से श को स् होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर 'भुजिमिल् पुणां णोऽन्त्ये ह्रस्वः' (८ ५६) से ण होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से इ होने पर यह रूप बनता है।

३४३ सब्वे—

सर्व शब्द से जस् विभक्ति में यह रूप बनता है। सर्व+जस् इस अवस्था में 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से व् को द्वित्व होने पर यह प्रयोग बनता है। संस्कृत में 'सर्वे' रूप है।

३४४ सव्वस्सि, सव्वम्मि सव्वत्थ—

सर्व शब्द से ङि विभक्ति में ये तीनों रूप बनते हैं 'ङेस्सिम्मित्थाः' (६-२) से ङि को स्सि म्मि तथा त्थ होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३ ५) से व् को द्वित्व होने पर ये प्रयोग सिद्ध होते हैं।

३४५. सहइ—

संस्कृत में सह धातु से सहते रूप बनता है। उसी का यह रूप है। 'ततिपोरिदेतौ' (७-) से त को इ होने पर यह रूप बनता है।

३४६ सहामि—

संस्कृत में सह धातु से सहे रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में सहामि बनता है। सहधातु से मिप् के स्थान पर 'इडमिपोर्मिः' (७ ३) से मि होने पर 'अत आ मिपि वा' (७-३) से आ होने पर सहामि रूप बनता है।

(८ ४) से न्ति होने पर 'यमि तद् वर्यान्त' (४ १७) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

९६० हुके, हुगे—

संस्कृत में अस्मद् शब्द से सु विभक्ति में अहं रूप बनता है उसी के ये दोनों रूप भी प्राकृत भाषाओं में होते हैं। 'अस्मदः सौ हुके हुगे अहके' (११ ९) से हुके और हुगे आदेश होने पर ये दोनों प्रयोग सिद्ध होते हैं।

९६१ हुदो—

इसकी मूल प्रकृति हृतः है 'ऋत्वादिषु तोद' (२-७) से त को द होने पर 'अत ओत् सो' (५ १) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

९६२ हुं—

यह रूप भी अहं का बनता है। 'अस्मदो हं महमहकं सौ' (६ ४) से हं होने पर यह रूप बनता है।

९६३ हम्मइ—

संस्कृत मे हन् धातु से हन्ति रूप बनता है उसी का यह प्रयोग है। हन्तेर्म्म' (८ ४५) से म्म आदेश होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से इ होने पर यह रूप बना है।

९६४ हरिसइ—

संस्कृत मे हर्षति और हृष्यति ये दो रूप होते हैं उन्हीं का यह रूप है। वृष कृष मृष हृषा मृतोरिः (८ ११) से ऋ को अरि होने पर 'शषो' स' (२ ४३) से ष् को स होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७ १) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

९६५. हशिदु, हशिदि—

ये प्रयोग मागधी प्राकृत में हसित' के बनते हैं। 'षसो श' (११ ३) से ष् को श होने पर 'अनादावयुजोस्तथयोर्दधौ' (१२ ३) से त को द होने पर 'कान्ताडुच्च' (११ ११) से उ तथा इ होने पर ये दोनों प्रयोग बनते हैं।

९६६ हसई, हसन्ती, हसमाण—

ये तीनों रूप हसन्ती के बनते हैं। 'ई च स्त्रियाम्' (७-११) से ई, न्त, माण आदेश होने पर ये तीनों रूप बनते हैं।

१५३ सु—

संस्कृत में कुत्सा या निन्दा के अर्थ में जिस शब्द का प्रयोग होता है उसी का प्राकृत भाषाओं में यह प्रयोग है। 'सु कुत्सायाम्' (९ १४) से यह शब्द निपात के रूप में है।

१५४ सूसइ—

यह प्रयोग शुष् धातु का है संस्कृत में शुष्यति बनता है। 'शषोः सः' (२ ४३) से ष् तथा ष् को स् होने पर 'श्यादीनां दीर्घता' (८ ४९) से दीर्घ होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७ १) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

१५५. से—

तद् शब्द से ङस् विभक्ति में संस्कृत में तस्य तथा तस्याः रूप बनते हैं। उसी का प्राकृत भाषाओं में 'से' रूप है। 'ङसा से' (६ ११) से 'से' आदेश होने पर यह प्रयोग बनता है।

१५६ सोऊण—

श्रु धातु से क्त्वा प्रत्यय होने पर संस्कृत में श्रुत्वा रूप बनता है प्राकृत भाषाओं में उसी का यह रूप है। 'सर्वत्र लवराम्' (३ ३) से र् का लोप होने पर 'शषोः सः' (२ ४३) से श् को स् होने पर 'गुणोर्वस्य गुणः' (हेम चन्द्र) इस सूत्र से उ को ओ गुण होने पर 'क्त्वा तूणः' (४ २३) से तूण आदेश होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

१५७ सोच्छं—

यह रूप 'श्रोष्यामि' का बनता है। 'श्रुगमु रुदि गमि दृशि विदि स्यान्तानां काई सोच्छं गोच्छं रोच्छं वच्छं वेच्छं' (७ १६) से सोच्छं आदेश होने पर यह रूप बनता है।

१५८ सोच्छिइ सोच्छिहिइ—

ये दोनो रूप श्रोष्यति के बनते हैं। 'श्रुगमादीनां विभक्त्यनुस्वार वर्जं द्वितीयस्य वा' (७-१७) से 'सोच्छं' आदेश होने पर 'ए च क्त्वा तुमुन् तव्य भविष्यत्सु' (७-११) से इ होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से इ होने पर 'सोच्छिइ' प्रयोग बनता है और पक्ष में 'भविष्यति हिः' (७-१२) से हि होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७ १) से इ होने पर यह रूप बनता है।

१५९ सोहंति—

इसका संस्कृत रूप शोभन्ते है। 'शषोः सः' (२ ४३) से श को स होने पर 'ख घ थ ध भां हः' (२ २७) से भ को ह होने पर 'न्ति हेत्था मोमुमा बहुषु'

३७४ हीरइ—

संस्कृत में 'ह्रियते' इस प्रयोग का प्राकृत भाषाओं में यह प्रयोग बनता है। 'हृ को हीर कीरौ (८ १) से हृ को हीर होने पर ततिपोरिदेतौ (७ १) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

३७५ हु—

यह निपात है और प्राकृत भाषाओं में यह 'हु दान पृच्छा निर्धारणेषु' (९ २) इस सूत्र से दान पृच्छा तथा निर्धारण (निश्चय) अर्थों मे तथा 'हु खु निश्चय वितर्क सम्भावनेषु' (७-६) से निश्चय वितर्क तथा संभावना अर्थों में इसका प्रयोग होता है।

३७६ हुमं—

यह प्रयोग भू धातु से क्त प्रत्यय के योग में संस्कृत के भूतम् के स्थान पर प्राकृत भाषाओं में प्रयुक्त होता है। 'भ्रुवो हु (८ २) से भू को हु होने पर क ग च ज त द प य वां प्रायो लोप' (२ २) से त् का लोप होने पर सोबिन्दुर्नपुंसके' (५ ३) से म् को बिन्दु ( ) होने पर यह प्रयोग बनता है।

३७७ हुणइ—

संस्कृत मे हु धातु से 'जुहोति' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में यह रूप है। भु हु जिनू धुवांणोऽन्त्ये ह्रस्व (२ ३९) से ण होने पर ततिपोरिदेतौ (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग होता है।

३७८ हुव्वइ, हुणिज्जइ—

संस्कृत में हु धातु का भाव तथा कर्म वाच्य में हूयते प्रयोग बनता है उसी के ये दोनों प्रयोग प्राकृत भाषाओं मे होते हैं। 'भावकर्मणोर्व्वश्च' (८ ५७) से व्व होने पर ततिपोरिदेतौ (७ १) से त को इ होने पर हुव्वइ होता है और 'भु हु जि लू धवां णोऽन्त्ये ह्रस्व' (८ ५) से ण होने पर ए च क्त्वा तुमुन् तव्य भविष्यत्सु (७-३३) से इ होने पर 'यस्य च (७-२१) से ज्ज होने पर ततिपोरिदेतौ' ८ १) से अन्त म त को इ होने पर 'हुणिज्जइ' रूप बनता है।

३७९ हुवइ—

संस्कृत में भू धातु का भवति' रूप बनता है उसी का यह प्राकृत प्रयोग है। 'भुवो हो हुवौ' (८ १) से हुव होने पर ततिपोरिदेतौ (७-१) से ति को इ होने पर 'हुवइ' प्रयोग सिद्ध होता है।

१६७ हस्सइ, हसिज्जइ—

'हस्यते' के ये दो रूप बनते हैं। 'यमादीनां द्वित्वं वा' (८ १८) से य् को द्वित्व होने पर 'ततिपोरिचेतौ' (७ १) से त को इ होने पर 'हस्सइ' रूप बनता है और पक्ष में 'एच क्त्वा तुमुन् तव्यभविष्यत्सु' (७-११) से इ होने पर 'मध्ये च' (७ २१) से ज्ज होने पर 'ततिपोरिचेतौ' (७ १) से त को इ होने पर हसिज्जइ रूप बनता है।

१६८ हसिह—

संस्कृत के हसेत का यह रूप है। 'ति हे त्था मो मुख्य मइयु' (७-४) से ह होने पर यह रूप बनता है।

१६९ होहिइ—

यह रूप संस्कृत के 'भविष्यति' का बनता है। 'भुवो हो हुवौ' (७-१) से भू को हो होने पर 'धातोर्भविष्यति हिः' (७-१२) से हि होने पर 'ततिपोरिचेतौ' (७ १) से इ होने पर यह रूप बनता है।

१७० हसिहिइ—

यह रूप 'हसिष्यति' का बनता है। 'धातोर्भविष्यति हिः' (७-१२) से हि होने पर 'एच क्त्वा तुमुन् तव्य भविष्यत्सु' (७-११) से इ होने पर 'ततिपोरिचेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

१७१ होहिस्सा, होहित्था—

ये दोनों रूप भविष्यामः के बनते हैं। सर्वप्रथम भू के स्थान पर 'भुवो हो हुवौ' (१) से हो आने पर 'मोस्सुमेर्हिस्सा हित्था' (७ १५) से हिस्सा तथा हित्था होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

१७२ हसिहिस्सा, हसिहित्था—

ये दोनों प्रयोग हसिष्यामः के बनते हैं। हस् धातु से 'एच क्त्वा तुमुन् तव्यभविष्यत्सु (७-११) से इ होने पर 'मोस्सुमेर्हिस्सा हित्था' (७-१५) से हिस्सा तथा हित्था आदेश होने पर ये दोनों प्रयोग बनते।

१७३ हिरे—

यह निपात है। संभाषण रति कलह, आक्षेप आदि में इसका प्रयोग होता है ऐसे अरे हिरे संभाषण रतिकलहाक्षेपेषु' (९ १५) से यह शब्द निपातित होता है।

प्राकृत भाषाओं का उद्भव, वैशिष्ट्य एवं साहित्य

प्रारम्भिक प्रकरणों में प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति तथा विकास के सम्बन्ध में कुछ विवेचन हो चुका है। यह निश्चय है कि प्राय भारतीय विद्वानों की सम्मति में प्राकृत भाषाओं ने अपनी मूल प्रकृति संस्कृत को विस्मृत नहीं किया है और संस्कृत से ही जहाँ अन्य देशी अपभ्रंश भाषाओं का पारम्पर्य सम्बन्ध से विकास हुआ है वहीं प्राकृत भाषाओं का भी संस्कृत से ही उद्भव हुआ है और वे ही प्राकृतें बौद्ध तथा जैन राजाओं तथा विद्वानों के आश्रय से लोक या प्राकृत जन साधारण में भी प्रयुक्त होगईं।

प्राकृतों का उपलब्ध साहित्य ईसवी पूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दी से ही उपलब्ध होता है। ब्राह्मण धर्म के प्रति जो एक विशिष्ट विरुद्ध प्रतिक्रिया बौद्धों तथा जैनों द्वारा प्रचलित की गई थी उसका रूप केवल धार्मिक क्षेत्र में ही सीमित नहीं रहा। जहाँ वेदों यज्ञों कर्मकाण्डों आदि के प्रति अनास्था दिखलाई गई वहाँ तीर्थ व्रत स्नान श्राद्ध तर्पण आदि विधियों के विरोध में भी जैनियों तथा बौद्धों ने स्पष्ट रूप से खण्डनात्मक दिशा का अवलम्बन लिया और जन्मजात वर्ण-व्यवस्था का भी खण्डन किया गया। जैन धर्म के पुराणों में तो राम तथा कृष्ण पर भी तरह-तरह की नवीन तथा अद्भुत कल्पनायें की गईं जैसे राम ने वनवास के समय अपने आठ विवाह तथा लक्ष्मण ने १६ विवाह किए। सुग्रीव की कन्याओं से भी इनके विवाह हुए और अयोध्या लौटने पर राम के राज्य करने पर रामचन्द्र के ८ तथा लक्ष्मण के १६ स्त्रियाँ थी आदि आदि बातें जैनियों ने अपने ग्रन्थों (देखिये पउम चरियं) में लिखी।

इस प्रकार सामान्य रूप से ब्राह्मण या वैदिक धर्म के प्रति विद्वेष तथा अनास्था की भावना ही इन धर्मों के अनुयायियों में रही। उसी के फलस्वरूप ब्राह्मणों तथा वेदों की भाषा तथा साहित्य के प्रति भी उनकी विरोध सम्बन्धिनी प्रतिक्रिया परिपुष्ट होती रही और प्रायः जैन तथा बौद्ध विद्वानों ने संस्कृत में लिखना पढ़ना भी समाप्त कर दिया। संस्कृत भाषा के

१८० हुवीअ—

संस्कृत में भू धातु से भूतकाल में 'अभवत्' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में यह रूप है। सर्वप्रथम 'भुवो हो हुवौ' (८-१) से भू को हुव आदेश होने पर 'ईअ भूते' (७-२१) से 'ई अ' आदेश होने पर 'हुवीअ' यह प्रयोग सिद्ध होता है।

१८१ हुवदु—

संस्कृत में भू धातु से लोट् लकार में तिप् प्रत्यय के योग में 'भवतु' रूप बनता है उसी का यह प्रयोग है। सर्वप्रथम 'भुवो हो हुवौ' (८ १) से हुव आदेश होने पर 'उत्तुसुविध्यादिष्वेकस्मिन्' (७ १२) से तिप् के स्थान पर 'दु' होने पर 'हुवदु' यह रूप बनता है।

१८२ होइ—

संस्कृत में भू धातु से लट् लकार में तिप् प्रत्यय के योग में 'भवति' रूप बनता है उसी का यह प्राकृत रूप है। सर्वप्रथम 'भुवो हो हुवौ' (८ १) से 'हो' होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१८३ वियले—

संस्कृत 'विकल-' का यह प्राकृत रूप है। 'कोय' (११ ४) से क को य होने पर 'अति च ए' (हेमचन्द्र) इस सूत्र से ए होने पर 'वियले' रूप बनता है।

परम्परा से तो वैदिक से हो सकता है (संस्कृत के द्वारा) पर मौलिक रूप से नहीं।

वेदों के शब्दों का निर्वचन निरुक्त में हुआ है। उसकी निर्वचनप्रक्रिया भी संस्कृत के जितनी अनुरूप है उतनी प्राकृतों से नहीं। कोई भी ऐसा व्याकरण नहीं है जिसमे वैदिक शब्दों की रूप सिद्धि उस समय प्रचलित प्राकृत भाषाओं से की गई हो। कोई तो व्याकरण का ऐसा ग्रन्थ होना चाहिए था जो कि यह बतलाता कि संस्कृत या वैदिक भाषा के शब्द प्राकृत भाषाओं से इस प्रकार बने। उदाहरण के लिए—वैदिक तथा संस्कृत भाषा मे 'भूतम्' का प्रयोग मिलता है जिसका प्राकृत रूप हुआ है। हुआ से भूतम् कैसे बन गया या ग्यारह से एकादश या बारह से द्वादश कैसे बन गये इसका कोई तो नियम वैदिक या संस्कृत भाषाओं में मिलना चाहिए था पर कोई भी ऐसा व्याकरण ग्रन्थ नहीं है। हां वैदिक अथवा संस्कृत के भूतम् से हुआ कैसे बना एकादश तथा द्वादश अथवा विद्या से विज्जा का बनने की प्रक्रिया तो प्राप्त होती है और प्राकृत सर्वस्व प्राकृत प्रकाश सिद्ध हेमचन्द्र आदि ग्रन्थों में इसका स्पष्ट उल्लेख है। तब यह सत्य है कि वैदिक तथा संस्कृत भाषाओं के उत्तर ही प्राकृतों का विकास हुआ न कि पूर्व।

प्राकृतों के अनेक रूप प्राप्त होते हैं। मागधी अर्धमागधी शौरसेनी पैशाची महाराष्ट्री आदि। प्रश्न यह है कि वैदिक तथा संस्कृत का विकास इन प्राकृतों में से किस प्राकृत से हुआ कोई भी उपलब्ध व्याकरण इस बात की पुष्टि नहीं करता कि एक ही रूप से सम्पूर्ण भारत मे व्याप्त संस्कृत या वैदिक भाषा का उद्भव किसी एक ही प्राकृत से हुआ हो जब प्राकृतों के अनेक रूप भारत मे यत्र तत्र प्रचलित थे। संस्कृत के भी भिन्न भिन्न रूप होने चाहिये थे पर ऐसा नहीं है। काश्मीर, अवन्ती तथा दक्षिण भारत में एवं गुजरात उड़ीसा तथा बंगाल में संस्कृत की एक रूपता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इसका उद्भव प्राकृतों से नहीं हो सकता किसी एक मूल की ही विभिन्न शाखाएं हो सकती हैं न कि विभिन्न शाखाओं से एक मूल की उत्पत्ति हो सके। यह साधारण सा तर्क भी प्राकृत भाषाओं को संस्कृत तथा वैदिक की मूलरूपा प्रतिपादित करने वालों के समक्ष अवश्य होना चाहिए।

संस्कृत भाषा में प्राकृतों का प्रयोग नाटकों मे प्रधान रूप से उपलब्ध होता है। संस्कृत के इन नाटकों में ईसा की द्वितीय शताब्दी से लेकर

विद्यमान होने पर भी तथा संस्कृत को जानने पर भी इन भिक्षुओं तथा विद्वानों ने संस्कृत को प्रश्रय नहीं दिया और अपने देश में प्रचलित प्राकृत का ही समादर किया। जैन तथा बौद्ध साहित्य में अत्यन्त अल्प ग्रन्थ ही संस्कृत में उपलब्ध होते हैं इसका कारण केवल संस्कृत की क्लिष्टता ही नहीं है अपितु यह प्रतिक्रिया है जो उन पण्डितों में स्वाभाविक रूप से वैदिक या ब्राह्मण धर्म के विरोध में थी।

इस प्रकार ईसवी दूसरी शताब्दी पूर्व से विक्रम की छठीं या नवीं शताब्दी तक इन प्राकृतों का साहित्य निर्मित हुआ और उसके भिन्न भिन्न रूप भी प्राप्त हुए।

अवैदिक विद्वानों ने प्राकृत भाषाओं के कुछ थोड़े से शब्दों की केवल बाह्य बनावट को देखकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि प्राकृत का विशिष्ट सम्बन्ध वैदिक भाषा से है न कि संस्कृत भाषा से और इस प्रकार उन्होंने संस्कृत का या वैदिक भाषा का भी उद्गम जन साधारण में प्रचलित प्राकृत भाषाओं से ही सिद्ध करने का प्रयास किया है। कुछ थोड़े से विकल्पों जैसे देवा देवेभिः, स्कम्भ कम्भ अथवा नीचा आदि को देखकर ही यह विद्वान यह मानते हैं कि आर्यों ने जहाँ बसने पर जो भाषा यहाँ पर प्रचलित थी उसी का परिष्कार कर वैदिक तथा संस्कृत की रचना की है। वे इस बात को मानना भी नहीं चाहते कि संस्कृत जैसी सुगठित पूर्ण तथा व्यवस्थित भाषा भी आर्य लोग निर्मित कर सके होंगे क्योंकि उन्होंने प्राकृत भाषा को ही संस्कृत रूप दिया।

वैदिक भाषा तथा संस्कृत भाषा की अनुरूपता सर्व जन अनुमोदित है। ९५ प्रतिशत शब्दावली (कृदन्त तथा तद्धित) दोनों के समान हैं। धात्वादि उपसर्ग तथा निपातों में भी इतना ही साम्य है। हाँ कुछ स्थलों में परिवर्तन अवश्य है और यह परिवर्तन संस्कृत के लोक भाषा होने के परिणाम रूप होने से ही है। प्राकृत का वैदिक भाषा के शब्दों से साम्य एक या दो प्रतिशत से अधिक नहीं है तब इस अवस्था में प्राकृतों की घनिष्टता वैदिक भाषा से नहीं हो सकती हाँ हो सकता है कि उत्तरकाल में वैदिक पदावली भी प्राकृतों में समाविष्ट हो गई हो पर व्यापकता तो वैदिक भाषा में संस्कृत की है न कि प्राकृतों की।

वेदों के सम्बन्ध में निघण्टु प्रामाणिक शब्दकोष है उसके अध्ययन से यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि उसमें प्राकृतों में प्रचलित प्रयोग नहीं के बराबर हैं पर संस्कृत के प्रायः शत प्रतिशत। फिर प्राकृतों का सम्बन्ध

मना बतानी पड़ेगी। प्राकृतों के मज्झ से मध्य मिगो से मृगः मउड से मुकुटम् मट्ठो से मष्टिः लच्छी से लक्ष्मी णेद्दा से निद्रा कुम्भार से कुम्भकार कण्हा से कृष्णा की रूप उपपत्ति स्वीकार करनी होगी जो कि परम्परा प्राप्त भाषाओं के विकास के नियमों में अवश्य बाधिका है। फिर प्राकृतों का तो यह गौरव है कि उन्होंने साधारण जनता के हाथों में आने पर भी अपनी मूल प्रकृति को नहीं छोड़ा और साथ ही साथ जिन शब्दों की संस्कृत प्रकृति नहीं भी थी उनको भी आगे चलकर देशी तथा अपभ्रंश शब्दों के रूप में अपने में मिला लिया। परिणामतः सोने से बने आभूषण भी तो मूल्य में सोने से अधिक होते ही हैं अतः प्राकृतों का यही मूल्य है कि उनमें भाषाओं की सजीवता तथा सक्रियता निहित है संस्कृत के समान निहत नहीं हो गई है।

यह कहना कि संस्कृत के अन्दर बहुत से बिहारी तथा अन्य प्रान्तों तथा देशों के शब्द हैं और इसलिये संस्कृत भी एक मिश्रित भाषा है ठीक ही है पर इससे संस्कृत के स्वरूप में तथा उसके महत्व में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं आता। संस्कृत की न्यूनताओं की पूर्ति के ही लिये तो समय समय पर वार्तिक सूत्र परिभाषा सूत्र गण सूत्र तथा महाभाष्यकार की इष्टियाँ बनाई गईं। अन्य शब्दों को भी गणों में समन्वित करके संस्कृत ने उदारता का परिचय दिया। इस प्रकार भिन्न भिन्न देशों में प्रयुक्त शब्दों को संस्कृतवत् बनाने का कार्य पाणिनि तथा उनके उत्तरकाल में होता ही रहा तब उन शब्दों को संस्कृत में देखकर यह अनुमान करना कि संस्कृत ने अपना रूप प्राकृत के द्वारा ग्रहण किया बुद्धि का अधिक व्यायाम ही है। शाक सम्पुटक वल्कल स्नात्वी पीत्वी पिचव्य दर्पत कुस्माण उम्भि कल्लुम संकरत वाकिन पोषेर मकण्ट अरटक आदि अनेक शब्द गणों में हैं वे भी संस्कृत के अनुरूप ही मान लिये गये हैं। क्योंकि पाणिनि के समय में भी शब्दों के महासागर के सभी शब्द संस्कृत के नियमों से सिद्ध नहीं होते थे पर उनको भी संस्कृत के अनुरूप स्वीकृत कर लिया गया था। अतः केवल मात्र इन शब्दों की स्थिति से संस्कृत को प्राकृतमूला कहना भ्रान्ति ही है। अतः प्राकृत प्रकाश प्राकृत सर्वस्व तथा सिद्ध हेमचन्द्र आदि विद्वानों के आधार पर हमारा भी विचार है कि प्राकृतों की मूल भूता संस्कृत ही है।

इस प्रकरण में प्राकृत भाषाओं की सामान्य विशेषताओं का पाठकों की सुविधा के लिये प्रतिपादन करना अनुचित नहीं होगा क्योंकि इन विशेषताओं से उस सामान्य विचारधारा का प्रदर्शन होता है जिससे यह

बनते हैं। गर्भित की त ध्वनि ण में हो कर गब्भिणं रूप बनाती है। ऐरावत का इसी प्रकार एरावणो बनता है। द का ल भी होती है जैसे प्रदीप्त का पलित्तं कदम्ब का कलंबो दोहद का दोहलो। द को र भी होता है जैसे गद्गद का गग्गरो एकादश का एआरह, द्वादश से बारह त्रयोदश से तेरह आदि। प् की ध्वनि व में परिवर्तित होती है जैसे शाप — सावो शपथ — सवहो, य को ज्ज भी होता है। रमणीयम् — रमणिज्जं उत्तरीयम् — उत्तरिज्जं करणीयम् — करणिज्जं आदि। छाया के य को ह हो कर छाहा प्रयोग होता है। ट की ध्वनि ड में परिवर्तित हो जाती है जैसे नटः — नडो, विटप — विडवो। यही ट की ध्वनि सटा शकट तथा कैटभ शब्दों में ढ के रूप में होती है और क्रमशः सढा सयढो और केढवो रूप बनते हैं। ड को ल भी होता है जैसे दाडिम का दालिम तडागं का तलाअं। ठ को ढ होता है जैसे मठः का मढं जठरं का जढरं कठोरं का कढोरं। फ की ध्वनि भ में परिवर्तित होती है जैसे शिफा — सिभा शेफालिका — सेभालिआ शफरी — सभरी आदि।

पदों के मध्य में यदि ख घ थ ध और भ ध्वनियों को प्राकृत भाषाओं में प्रायः ह हो जाता है क्योंकि ये महा प्राण ध्वनियां हैं तथा कहने तथा सुनने में कर्कश प्रतीत होती हैं जैसे—मुखम् — मुहम् मेखला — मेहला मेघः — मेहो जघनं — जहणं गाथा — गाहा शपथः सवहो राधा — राहा बधिर — बहिरो सभा — सहा रासभः — रासहो आदि।

संस्कृत की र ध्वनियां ल में परिवर्तित होती हैं जैसे हरिद्रा — हलद्दा चरण — चलणो मुखर — मुहलो सुकुमार — सोमालो बञ्जरी — बञ्जली अंगारः — इंगालो किरात — चिलादो परिखा — फलिहा आदि।

प्राकृत भाषाओं में संस्कृत शब्दों के आदि में स्थित य को ज हो जाता है जैसे यष्टि — जट्ठी यम — जमो यश — जसो। यष्टि के य को ल हो कर लट्ठी बनता है। दोला दण्ड तथा दशन के द को ड हो जाता है और डोला डंडो तथा डसणो रूप बनते हैं। प की ध्वनि फ में हो जाती है जैसे परुष — फरुसो परिघ फलिहो परिखा — फलिहा पनस — फणसो। किन्हीं पदों के आदि अक्षर को छ भी होता है। षष्ठी — छट्ठी षण्मुख — छम्मुहो, शावक — छावओ सप्तपर्णः — छत्तवण्णो।

प्राकृत भाषाओं में न् की ध्वनि नहीं होती इसके स्थान पर सर्वत्र ण् की ध्वनि होती है। नदी — णई, कनक — कणअं वचनम् — वअणं आदि।

९वीं या ८वीं शताब्दी तक है अतः यही काल प्राकृत भाषाओं के अभ्युदय का माना जा सकता है जो प्राकृत भाषाओं का उपलब्ध साहित्य भी इसी काल का है। जैन साहित्य अर्ध मागधी महाराष्ट्री तथा शौरसेनी प्राकृतों में उपलब्ध होता है। भिन्न भिन्न समयों में जैनधर्म के सिद्धान्तों का संग्रह आगम सूत्र (सूत्र या सिद्धान्त) ग्रन्थों में किया गया। इस पुस्तक में उस साहित्य की विवेचना तो नहीं हो सकती हाँ उसका नाम मात्रिक परिचय देना ही पर्याप्त होगा। उनके विषय तथा विवेचन के लिये उन ग्रन्थों का स्वाध्याय आवश्यक है। जैन साहित्य ६ विभागों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) अंग जिनकी संख्या १२ है। (२) उवंग (उपांग) इनकी संख्या भी १२ है। (३) छेय सुत्त (छेद सूत्र) इनकी संख्या ६ है। (४) मूल सुत्त (मूलसूत्र) इनकी संख्या ४ है। (५) पइण्ण (प्रकीर्ण) इनकी संख्या १० है। (६) चूलिया सुत्त (चूलिका सूत्र) इनकी संख्या दो है।

१२ अंग ये हैं — १) आयारंग सुत्त (आचाराङ्ग सूत्र) (२) सूयगडंग (सूत्रकृताङ्ग) (३) ठाणांग (स्थानाङ्ग) (४) समवायाङ्ग (५) विवाह पण्णत्ती (व्याख्या प्रज्ञप्ति) (६) णाया धम्म कहाओ (ज्ञात धर्म कथा (७) उवासगदसाओ (उपासक दशा) (८) अन्तगडदसाओ (अन्तकृद्दशा) (९) अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरौपपातिकदशा) (१०) पण्हा वागरणाइम् (प्रश्नव्याकरणानि) (११) विवागसुयम् (विपाक सुतम्) (१२) दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद)।

१२ उपाङ्ग — (१) ओव वाइयम् (औपपातिकम्) (२) रायपसेणियम् (राज प्रश्नीयम्) (३) जीवा जीवाभिगम (४) पन्नवणा (प्रज्ञापना) (५) जम्बुद्दीव पन्नत्ती (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति) (६) चन्द पन्नत्ती (चन्द्र प्रज्ञप्ति) (७) सूरियपन्नत्ती (सूर्यप्रज्ञप्ति) (८) कप्पियाओ (कल्पिकाः) (९) कप्पावडंसियाओ (कल्पावतंसिकाः) (१०) पुप्फियाओ (पुष्पिकाः) (११) पुप्फ चूलाओ (पुष्प चूला) (१२) वण्हिदसाओ (वृष्णिदशा)। ये ग्रन्थ अंगों की अपेक्षा मान्यता में कुछ हीन हैं।

६ छेद सूत्र — (१) निसीह (निशीथ) (२) महानिसीह (महानिशीथ) (३) ववहार (व्यवहार) (४) आयारदसाओ (आचार दशाः) (५) कप्प सुत्त (कल्प सूत्र) पंचकप्प (पंचकल्प)

वररुचि प्रणीत प्राकृत प्रकाश के सूत्र तथा उनके अर्थ

प्रथम परिच्छेद

आदेरतः । १—१

अर्थ —इस परिच्छेद में जो भी कार्य होगा वह आदि के अकार को होगा यह अधिकार सूत्र है ।

आ समृद्ध्यादिषु वा । १ २

अर्थ —समृद्धि आदि शब्दों मे आदि के अकार को विकल्प से दीर्घ आ होता है ।

इदीषत्पक्वस्वप्नवेतसव्यजनमृदङ्गाङ्गारेषु । १ ३

अर्थ —ईषत् आदि शब्दों में आदि के अकार को इ होता है ।

लोपोऽरण्ये । १ ४

अरण्य (जंगल) शब्द के आदि के अ का लोप हो जाता है ।

ए शय्यादिषु । १ ५

अर्थ —शय्या आदि शब्दों में आदि के अकार को एकार होता है ।

ओ बदरे देन । १ ६

अर्थ—बदर शब्द में दकार के साथ आदि के अकार को ओ हो जाता है ।

अलवणनवमल्लिकयोर्वेन । १ ७

अर्थ –लवण आदि शब्दों में आदि के अकार को वकार के साथ ओ हो जाता है ।

मयूर मयूखयोर्य्वा वा । १—८

अर्थ —मयूर तथा मयूख शब्दों में यु के साथ आदि के अकार को विकल्प से ओ होता है ।

चतुर्थी चतुर्दश्योस्तुना । १ ९

अर्थ— चतुर्थी तथा चतुर्दशी शब्दों में तु के साथ आदि के अकार को ओ हो जाता है ।

कर्म प्रकृति' 'पंच संग्रह' 'कषाय प्राभृत' 'मूलाराधना' 'श्रावकाचार' 'दर्शनसार' 'जीवविचार' आदि अनेक ग्रन्थ गद्य तथा पद्य रूप में उपलब्ध हैं।

प्रबन्ध काव्यों में 'सेतुबन्ध' 'गउडवहो' 'लीलावई' 'महुमहविजय' 'सोरि चरित' *'सिरिचिंध कव्वं' 'उसाणिरुद्ध' 'कंसवहो'* 'रावण विजय' आदि प्रसिद्ध तथा सुन्दर साहित्य प्राकृत भाषाओं में उपलब्ध है। मुक्तक काव्य भी 'गाथा सप्तशती' 'वज्जा लग्ग' 'मदन मुकुट' 'विषमबाण लीला' आदि भी प्राप्त हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत के प्रायः सभी प्रधान तथा उत्कृष्ट ग्रन्थों में प्राकृतों के पद्य उपलब्ध होते हैं। नाट्य शास्त्र दश रूपक काव्यानुशासन ध्वन्यालोक सरस्वती कण्ठाभरण लोचन काव्यालंकार काव्यादर्श रस गंगाधर काव्यप्रकाश अलंकार विमर्शिनी' आदि ग्रन्थों में पर्याप्त रूप में प्राकृतों के पद्य हैं।

संस्कृत का नाट्य साहित्य पूर्ण रूप से इन प्राकृतों से संयुक्त है क्योंकि उसमें स्त्रियों तथा अन्य हीन पात्रों द्वारा इन्हीं प्राकृतों का प्रयोग कराया जाता था। कालिदास शूद्रक भवभूति हाल श्रीहर्ष आदि कवियों ने अपनी कृतियों में इनका सुन्दर उपयोग किया है।

इस प्रकार प्राकृत भाषाओं का साहित्य भी प्रचुर मात्रा में है पर दुर्भाग्य से प्राकृतों का अध्ययन न होने से इस साहित्य का प्रचार भी नहीं है। आशा है कि यह अमर निधि विद्वानों की उपेक्षा से समाप्त प्राय न हो पायेगी।

वररुचि प्रणीत प्राकृत प्रकाश के सूत्र तथा उनके अर्थ

प्रथम परिच्छेद

आदेरत । १—१

अर्थ —इस परिच्छेद में जो भी कार्य होगा वह आदि के अकार को होगा यह अधिकार सूत्र है।

आसमृद्ध्यादिषु वा । १-२

अर्थ —समृद्धि आदि शब्दों में आदि के अकार को विकल्प से दीर्घ आ होता है।

इदीषत् पक्वस्वप्न वेतस व्यजनमृदङ्गाऽङ्गारेषु । १ ३

अर्थ —ईषत् आदि शब्दों में आदि के अकार को इ होता है।

लोपोऽरण्ये । १ ४

अरण्य (जंगल) शब्द के आदि के अ का लोप हो जाता है।

ए शय्यादिषु । १ ५

अर्थ —शय्या आदि शब्दों में आदि के अकार को एकार होता है।

ओ बदरे देन । १ ६

अर्थ—बदर शब्द में दकार के साथ आदि के अकार को ओ हो जाता है।

अ लवण नवमल्लिकयोर्वेन । १-७

अर्थ - लवण आदि शब्दों में आदि के अकार को वकार के साथ ओ हो जाता है।

मयूर मयूखयोर्य्वा वा । १-८

अर्थ —मयूर तथा मयूख शब्दों में यु के साथ आदि के अकार को विकल्प से ओ होता है।

चतुर्थी चतुर्दश्योस्तुना । १ ९

अर्थ- चतुर्थी तथा चतुर्दशी शब्दों के तु के साथ आदि के अकार को ओ हो जाता है।

अदातो यथादिषु वा । १ १०

अर्थ—यथा आदि शब्दों में आ के स्थान पर विकल्प से अकार हो जाता है।

इत्सदादिषु । १ ११

अर्थ—सदा आदि शब्दों में आ को विकल्प से इ होता है।

इत एत् पिण्डसमेषु । १ १२

अर्थ—पिण्ड आदि शब्दों में इकार को एकार विकल्प से होता है।

अत् पथि हरिद्रापृथिवीषु । १ १३

अर्थ—पथि आदि शब्दों में इकार को अकार होता है।

इतेस्तः पदादेः । १ १४

इति शब्द के त् के बाद जो इ है उसको अकार होता है।

उदिक्षुवृश्चिकयोः । १ १५

अर्थ—इक्षु तथा वृश्चिक शब्दों के इकार को उकार हो जाता है।

ओच्च द्विधाकृञः । १ १६

अर्थ—कृञ धातु के प्रयोग में द्विधा शब्द को ओकार होता है और उकार भी होता है।

ईत् सिंहजिह्वयोश्च । १ १७

अर्थ—सिंह तथा जिह्वा शब्द के इकार को ईकार होता है।

इदीतः पानीयादिषु । १ १८

अर्थ—पानीय आदि शब्दों में आदि के ईकार को इकार होता है।

एन्नीडापीडकीदृशेदृशेषु । १ १९

अर्थ—नीड आदि शब्दों में आदि के ईकार को एकार होता है।

उत ओत् तुण्डरूपेषु । १-२०

अर्थ—तुण्ड आदि शब्दों में आदि के उकार को ओकार होता है।

उलूखलेल्वा वा । १-२१

अर्थ—उलूखल शब्द में लकार के साथ उकार को ओकार विकल्प से होता है

अत् मुकुटादिषु । १-२२

अर्थ—मुकुट आदि शब्दों में आदि के उकार के स्थान पर अकार होता है।

इत्पुरुषे रोः । १ २३

अर्थ—पुरुष शब्द के रु में जो उ है उसको इकार होता है।

उद्वौ मधूके । १ २४

अर्थ—मधूक शब्द के ऊकार को उकार होता है।

मद् दुकूले वा लस्य द्वित्वम् । १ २५

दुकूल शब्द के ऊ को अकार विकल्प से होता है और लकार को द्वित्व हो जाता है।

एन्नूपुरे । १ २६

अर्थ—नूपुर शब्द के ऊकार को एकार हो जाता है।

ऋतोऽत् । १ २७

अर्थ—आदि के ऋकार को अकार होता है।

इदृष्यादिषु । १ २८

अर्थ—ऋषि आदि शब्दों में आदि के ऋकार को इकार हो जाता है।

उदृत्वादिषु । १ २९

अर्थ—ऋतु आदि शब्दों के आदि के ऋकार को उकार हो जाता है।

ऋ रीतिः । १ ३०

अर्थ—दूसरे वर्ण से असयुक्त आदि के ऋकार को रिकार हो जाता है।

क्वचिद्युक्तस्यापि । १ ३१

अर्थ—क्वचित् में युक्त होने पर भी ऋकार को कहीं कहीं रिकार होता है।

वा वृन्ते रुर्वा । १ ३२

अर्थ—वृन्त शब्द में व् अक्षर के साथ ऋकार का रकार हो जाता है (विकल्प से)।

मृगः वलत्स्वरूपमि । १ ३३

अर्थ—समृग शब्द में मकार को इमि यह आदेश होता है।

एत इद् वेदना देवरयोः । १ ३४

अर्थ—वेदना तथा देवर शब्दों के एकार को इकार होता है।

ऐत एत् । १ ३५

अर्थ—आदि के ऐकार को एकार होता है।

दैत्यादिष्वइ । १ ३६

अर्थ—दैत्यादि शब्दों में ऐकार को अइ यह आदेश होता है।

दैवे वा । १ ३७

अर्थ—दैव शब्द के ऐकार को विकल्प से अइ आदेश होता है।

इत्सैन्धवे । १ ३८

अर्थ—सैन्धव शब्द के ऐकार को इकार होता है।

अङ्कोठे ल्लः । २-२५

अर्थ—अङ्कोठ शब्द के ठकार को ल्ल होता है ।

फो भः । २-२६

अर्थ—अयुक्त तथा अनादि में स्थित फ को भ होता है ।

खघथधभां हः । २-२७

अर्थ—अयुक्त तथा अनादि में स्थित ख घ थ ध और भ के स्थान पर ह होता है ।

प्रथम शिथिल निषधेषु ढः । २-२८

अर्थ—इन शब्दों के थ तथा ध को ढ होता है ।

कैटभे वः । २-२९

अर्थ—कैटभ शब्द के भ को व होता है ।

हरिद्रादीनां रो लः । २-३०

अर्थ—हरिद्रा आदि शब्दों के रकार को लकार होता है ।

आदेर्यो जः । २-३१

अर्थ—आदि के यकार को जकार होता है ।

यष्ट्यां लः । २-३२

अर्थ—यष्टि शब्द के यकार का लकार होता है ।

किराते चः । २-३३

अर्थ—किरात शब्द के क को च होता है ।

कुब्जे खः । २-३४

अर्थ—कुब्ज शब्द के क का ख होता है ।

दोला दण्ड दशनेषु डः । २-३५

अर्थ—इन शब्दों के आदि वर्ण को ड होता है ।

परुष परिघ परिखासु फः । २-३६

अर्थ—इन शब्दों के आदि वर्ण को फ होता है

पनसेऽपि । २-३७

अर्थ—पनस शब्द के आदि वर्ण को भी फ होता है ।

बिसिन्यां भः । २-३८

अर्थ—बिसिनी शब्द के आदि वर्ण को भ होता है ।

मन्मथे वः । २-३९

अर्थ—मन्मथ शब्द के आदि वर्ण को व होता है ।

लाहले णः । २-४०

अर्थ—लाहल शब्द के आदि वर्ण को ण होता है

अङ्कोठे ल्लः । २-२५

अर्थ—अङ्कोठ शब्द के ठकार को ल्ल होता है।

फो भः । २-२६

अर्थ—अयुक्त तथा अनादि में स्थित फ को भ होता है।

खघथधभां हः । २-२७

अर्थ—अयुक्त तथा अनादि में स्थित ख घ थ ध और भ के स्थान पर ह होता है

प्रथम शिथिल निषधेषु ढ । २-२८

अर्थ—इन शब्दों के थ तथा ध को ढ होता है।

कैटभे व । २-२९

अर्थ—कैटभ शब्द के भ को व होता है।

हरिद्रादीनां रो ल । २-३०

अर्थ—हरिद्रा आदि शब्दों के रकार को लकार होता है।

आदेर्यो ज । २-३१

अर्थ—आदि के यकार को जकार होता है।

यष्ट्यां ल । २-३२

अर्थ—यष्टि शब्द के यकार का लकार होता है।

किराते च: । २-३३

अर्थ—किरात शब्द के क को च होता है।

कुब्जे ख । २-३४

अर्थ—कुब्ज शब्द के ब का ख होता है।

दोला दण्ड दशनेषु ड । २-३५

अर्थ—इन शब्दों के आदि वर्ण को ड होता है।

परुष परिघ परिखासु फ. । २-३६

अर्थ—इन शब्दों के आदि वर्ण को फ होता है

पनसेऽपि । २-३७

अर्थ—पनस शब्द के आदि वर्ण को भी फ होता है।

बिसिन्यां भ । २-३८

अर्थ—बिसिनी शब्द के आदि वर्ण को भ होता है।

मन्मथे व । २-३९

अर्थ—मन्मथ शब्द के आदि वर्ण को व होता है।

लाहले ण । २-४०

अर्थ—लाहल शब्द के आदि वर्ण को ण होता है

ह्न ह्म ह्ण षु नमणां स्थितिरूर्ध्वम् । ३-८

अर्थ—ह्न ह्म तथा ह्ण में जो न म तथा ण हैं उनकी स्थिति ऊपर हो जाती है ।

युक्तस्य । ३-९

अर्थ—यह भी अधिकार सूत्र है । इसके आगे इस परिच्छेद में वर्णित जो भी कार्य होगा वह युक्त वर्णों को ही होगा ।

ष्टस्य ठः । ३-१०

अर्थ—ष्ट के टकार को ठकार होता है ।

अस्थनि । ३-११

अर्थ—अस्थि शब्द में संयुक्त वर्ण को ठकार होता है ।

स्तस्य थः । ३-१२

अर्थ—स्त को थ आदेश होता है ।

स्तम्बे । ३-१३

अर्थ—स्तम्ब शब्द के स्त को थ नहीं होता ।

स्तम्भे खः । ३-१४

अर्थ—स्तम्भ शब्द के स्त को ख होता है ।

स्थाणावहरे । ३-१५

अर्थ—स्थाणु शब्द के संयुक्त वर्ण को ख होता है पर यदि स्थाणु शब्द हर (शंकर) का वाची नहीं है ।

स्फोटके । ३-१६

अर्थ—स्फोटक शब्द में संयुक्त वर्ण को खकार होता है ।

र्य शय्याभिमन्युषु जः । ३-१७

अर्थ—र्य तथा शय्या और अभिमन्यु शब्दों के संयुक्त वर्णों को जकार होता है ।

सूर्य धैर्य सौन्दर्याश्चर्यपर्यन्तेषु रः । ३-१८

अर्थ—इन शब्दों के र्य को रकार होता है ।

सूर्ये वा । ३-१९

अर्थ—सूर्य शब्द के र्य को रकार विकल्प से होता है ।

चौर्य समेषु रिअः । ३-२०

अर्थ—चौर्य आदि के समान शब्दों में र्य को 'रिअ' यह आदेश होता है ।

पर्यस्त पर्याण सौकुमार्येषु लः । ३-२१

अर्थ—इन शब्दों के र्य को लकार होता है ।

र्तस्य टः । ३ २२

अर्थ—र्त इसको टकार होता है ।

पत्तने । ३ २३

अर्थ—पत्तन शब्द के संयुक्त वर्ण को टकार होता है ।

न धूर्त्तादिषु । ३ २४

अर्थ—धूर्त आदि शब्दों मे तकार को टकार नही होता ।

गर्त्ते डः । ३ २५

अर्थ—गर्त शब्द के र्त को डकार होता है ।

गर्दभ सम्मर्द वितर्दि विच्छर्दिषु र्दस्य । ३ २६

अर्थ—इन शब्दों के र्द को ड होता है ।

त्थध्यर्या चछजा । ३-२७

अर्थ—त्थ ध्य तथा र्य इनको क्रम से च छ तथा ज होता है ।

ध्यह्योर्झः । ३-२८

अर्थ—ध्य तथा ह्य को झकार होता है ।

क्ष स्कक्षां खः । ३-२९

अर्थ—क्ष स्क तथा क्ष को ख हो जाता है ।

अक्ष्यादिषु छः । ३ ३०

अर्थ—अक्षि आदि शब्दों मे क्ष को छ होता है ।

क्षमा वृक्ष क्षणेषु वा । ३ ३१

अर्थ—इन शब्दो के क्षकार को विकल्प से छकार होता है ।

ष्म पक्ष्म विस्मयेषु म्हः । ३ ३२

अर्थ—ष्म पक्ष्म और विस्मय शब्दों के संयुक्त वर्णों को म्ह आदेश होता है ।

ह्नस्नष्णक्ष्णश्नां ण्हः । ३ ३३

अर्थ—ह्न स्न ष्ण क्ष्ण तथा श्न को ण्ह होता है ।

चिह्ने न्धः । ३ ३४

चिह्न के संयुक्त वर्ण को न्ध होता है ।

ष्पस्य फः । ३-३५

अर्थ—ष्प इसको फ आदेश होता है ।

स्पस्य सर्वत्र स्थितस्य । ३ ३६

अर्थ—स्प यह संयुक्त वर्ण यदि शब्द में कहीं पर भी हो तो उसे फ हो जाता है ।

ङ ञ ण षु नमयां स्थितिरूर्ध्वम्। ३-८

अर्थ—ङ ञ तथा ण में जो न ल तथा म हैं उनकी स्थिति ऊपर हो जाती है।

युक्तस्य। ३-९

अर्थ—यह भी अधिकार सूत्र है। इसके आगे इस परिच्छेद में जहाँ कहीं भी कार्य होगा वह युक्त वर्णों को ही होगा।

ष्टस्य ठः। ३-१०

अर्थ—ष्ट के टकार को ठकार होता है।

अस्थनि। ३-११

अर्थ—अस्थि शब्द में संयुक्त वर्ण को ठकार होता है।

स्तस्य थः। ३-१२

अर्थ—स्त को थ आदेश होता है।

स्तम्बे। ३-१३

अर्थ—स्तम्ब शब्द के स्त को थ नहीं होता।

स्तम्भे खः। ३-१४

अर्थ—स्तम्भ शब्द के स्त को ख होता है।

स्थाणावहरे। ३-१५

अर्थ—स्थाणु शब्द के संयुक्त वर्ण को ख होता है पर यदि स्थाणु शब्द हर (शंकर) का वाची नहीं है।

स्फोटके। ३-१६

अर्थ—स्फोटक शब्द में संयुक्त वर्ण को खकार होता है।

र्य शय्याभिमन्युषु जः। ३-१७

अर्थ—र्य तथा शय्या और अभिमन्यु शब्दों के संयुक्त वर्णों को जकार होता है।

तूर्य धैर्य सौन्दर्याश्चर्यपर्यन्तेषु रः। ३-१८

अर्थ—इन शब्दों के र्य को रकार होता है।

सूर्ये वा। ३-१९

अर्थ—सूर्य शब्द के र्य को रकार विकल्प से होता है।

शौर्य समेषु रिअ। ३-२०

अर्थ—शौर्य आदि के समान शब्दों में र्य को 'रिअ' यह आदेश होता है।

पर्यस्त पर्याण सौकुमार्येषु लः। ३-२१

अर्थ—इन शब्दों के र्य को लकार होता है।

वर्गेषु युजः पूर्वः । ३ ५१

अर्थ—युक्त वर्णों में आदेश रूप में जो शेष रह जाते हैं उनको यदि वे आदि में नहीं तो द्वित्व होने पर यदि वे दूसरे या चौथे वर्ण हैं (वर्ग के) तो दूसरे को पहला और चौथे को तीसरा वर्ण उसी वर्ग का होता है।

नीडादिषु। ३ ५२

अर्थ—अनादि में वर्तमान नीड आदि शब्दों को द्वित्व होता है।

आम्र ताम्रयोर्व । ३ ५३

अर्थ—आम्र तथा ताम्र शब्दों में विकल्प से ब का द्वित्व होता है।

नरहो। ३ ५४

अर्थ—रकार तथा हकार को द्वित्व नहीं होता।

आङोज्ञस्य । ३ ५५

अर्थ—आङ पूर्वक ज्ञ इस वर्ण को द्वित्व नहीं होता।

न बिन्दु परे। ३ ५६

अर्थ—अनुस्वार परे होने पर द्वित्व नहीं होता।

समासे वा। ३ ५७

अर्थ—समास में आदेश के शेष भूत वर्णों को विकल्प से द्वित्व होता है।

सेवादिषु च। ३ ५८

अर्थ—सेवा आदि शब्दों मे अनादि में स्थित वर्ण को विकल्प से द्वित्व होता है।

विप्रकर्षः। ३ ५९

अर्थ—यह अधिकार सूत्र है। इस अध्याय की समाप्ति तक जो कार्य होगा वह विप्रकर्ष दूर या स्वरभक्ति के रूप में होगा। अर्थात् संयुक्त वर्ण अलग अलग या दूर हो जायेंगे।

क्लिष्टश्लिष्टरत्न क्रियाशार्ङ्गेषु तत्स्वर वत् पूर्वस्य। ३ ६०

अर्थ—क्लिष्ट आदि शब्दों में संयुक्त वर्णों का विप्रकर्ष होने पर जो निरर्थक पूर्व वर्ण होता है उसकी तत्स्वरता होती है अर्थात् पूर्व स्वर के साथ ही वह वर्ण भी उसी रूप का हो जाता है।

कृष्णे वा। ३ ६१

अर्थ—कृष्ण शब्द में संयुक्त को विप्रकर्ष तथा तत्स्वरता विकल्प से होती है।

इः श्री ह्री क्रीत क्लान्त क्लेश म्लान स्वप्न स्पर्श हर्षार्ह गर्हेषु। ३ ६२

अर्थ—इन शब्दों के युक्त को विप्रकर्ष होता है और पूर्व को इकार होने पर तत्स्वरता भी होती है।

सि च । ३ ३७

अर्थ—स्म को कहीं कहीं सि आदेश भी होता है ।

बाष्पे अश्रुणि हः । ३ ३८

अर्थ—बाष्प शब्द यदि आंसू वाचक हो तो उसे ह आदेश होता है ।

कार्षापणे । ३ ३९

अर्थ—कार्षापण शब्द में संयुक्त वर्ण को हकार होता है ।

ष्पस्पयोः फः । ३ ४०

अर्थ—ष्प स्प तथा स्प को फकार होता है ।

वृश्चिके ञ्चुः । ३-४१

अर्थ—वृश्चिक शब्द के श्च को ञ्चु आदेश होता है ।

नोत्सुकोत्सवयोः । ३ ४२

अर्थ उत्सुक तथा उत्सव इनमें संयुक्त वर्णों को छ नहीं होता ।

ष्मोमः । ३ ४३

अर्थ—ष्म इसको मकार होता है ।

न्न ज्ञ पञ्चाशत पञ्चदशेषु ण । ३ ४४

अर्थ—न्न ज्ञ तथा पञ्चाशत् और पञ्चदश शब्दों में संयुक्त वर्णों को णकार होता है ।

तालवृन्ते ण्टः । ३ ४५

अर्थ—तालवृन्त शब्द में संयुक्त वर्ण को ण्ट होता है ।

भिन्दिपाले ण्डः । ३ ४६

अर्थ—भिन्दिपाल इस शब्द में संयुक्त वर्णों को ण्ड आदेश होता है ।

विह्वले भहौ वा । ३ ४७

अर्थ—विह्वल शब्द में संयुक्त वर्णों को भकार तथा हकार विकल्प से होते हैं ।

आत्मनि पः । ३ ४८

अर्थ—आत्मन् शब्द में संयुक्त वर्ण को पकार होता है ।

क्मस्य । ३ ४९

अर्थ—क्म इसको पकार होता है ।

शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ । ३-५०

अर्थ—युक्त वर्णों में आदेश रूप में जो शेष रह जाते हैं उनको यदि वे आदि में न हों तो द्वित्व हो जाता है ।

न विद्युति । ४-९
अर्थ—विद्युत् शब्द में आकार नहीं होता ।
शरदो दः । ४-१०
अर्थ—शरद् शब्द के अन्त्य को द होता है ।
दिक् प्रावृषोः सः । ४-११
अर्थ—दिक् तथा प्रावृट् शब्द के अन्त्य को सकार होता है ।
मो बिन्दुः । ४-१२
अर्थ—अन्त्य के हलन्त मकार को बिन्दु होता है ।
अचि मश्च । ४-१३
अर्थ—अच् परे होने पर म् को विकल्प से बिन्दु तथा मकार होता है ।
नञोर्हलि । ४-१४
अर्थ—नकार तथा ञकार को हल् परे रहने पर विकल्प से बिन्दु तथा मकार होता है ।
वक्रादिषु । ४-१५
अर्थ—वक्र आदि शब्दों मे बिन्दु होता है ।
मांसादिषु वा । ४-१६
अर्थ—मांस आदि शब्दों मे विकल्प से बिन्दु होता है ।
यमि वर्गान्त्य । ४-१७
अर्थ—यम् प्रत्याहार परे होने पर बिन्दु होता है या उस अक्षर के वर्ग का अन्तिम अक्षर होता है ।
नसान्त प्रावृट् शरदः पुंसि । ४-१८
अर्थ—नकारान्त सकारान्त शब्द तथा प्रावृट् और शरद् शब्द पुंल्लिंग मे प्रयुक्त होते हैं ।
नशिरोनभसी । ४-१९
अर्थ—शिरस् तथा नभस् शब्दों का पुंल्लिंग मे प्रयोग नहीं करना चाहिये ।
पृष्ठाक्षिप्रश्ना स्त्रियां वा । ४-२०
अर्थ—इन शब्दो का प्रयोग स्त्रीलिंग में विकल्प से होता है ।
ओत्वापयोः । ४-२१
अर्थ—अव तथा अप इन उप सर्गो को विकल्प से ओ होता है ।
तस्त्वयोर्दाणौ । ४-२२
अर्थ—तस् तथा त्व प्रत्ययों को क्रम से दा तथा त्तण के आदेश होते हैं ।

अ क्ष्मा श्लाघयो: । ३ ६३

अर्थ—क्ष्मा तथा श्लाघा शब्दों में युक्त को विप्रकर्ष होता है तथा पूर्व को अकार तथा उत्स्वरता भी होती है ।

स्नेहे वा । ३ ६४

अर्थ—स्नेह शब्द में युक्त को विप्रकर्ष तथा पूर्व को अकार और उत्स्वरता विकल्प से होती है ।

इ पद्म तन्वी समेषु । ३ ६५

अर्थ—पद्म तथा तन्वी के समान शब्दों में युक्त को विप्रकर्ष होता है और पूर्व को इ तथा उत्स्वरता भी होती है ।

ज्यायामीत् । ३ ६६

अर्थ—ज्या शब्द में युक्त को विप्रकर्ष होता है और पूर्व को ईकार तथा उत्स्वरता भी होती है ।

चौथा परिच्छेद

संध्यामचामज्लोप विशेषा बहुलम् । ४-१

अर्थ—सन्धि में वर्तमान अचों (स्वरों) को अच् के विविध कार्य (ह्रस्व आदि) तथा लोप विकल्प से होते हैं ।

उदुम्बरे दोर्लोप । ४ २

अर्थ—उदुम्बर शब्द में दु का लोप होता है ।

कालायसे यस्य वा । ४ ३

अर्थ—कालायस शब्द में यकार का लोप विकल्प से होता है ।

भाजने जस्य । ४ ४

अर्थ—भाजन शब्द में ज का लोप विकल्प से होता है ।

यावदादिषु वस्य । ४ ५

अर्थ—यावद् आदि शब्दों में व का लोप विकल्प से होता है ।

अन्त्यस्य हल: । ४ ६

अर्थ—शब्दों के अन्त में जो हल् है उसका लोप होता है ।

स्त्रियामात् । ४-७

अर्थ—स्त्रीलिंग के शब्दों को यदि उनके अन्त में हल् है तो उसे आकार होता है ।

रो रा । ४-८

अर्थ—स्त्रीलिंग में अन्त्य के र् को रा होता है ।

पांचवां परिच्छेद

अत ओत् सो ।   ५ १

अर्थ—अकारान्त शब्द से परे सु के स्थान पर ओ होता है।

जश् शसोर्लोप ।   ५ २

अर्थ—अकारान्त के अनन्तर जस् तथा शस् का लोप होता है।

अमो म ।   ५ ३

अर्थ—अकारान्त शब्द के बाद द्वितीया के एक वचन में जो अम् है उसके अकार का लोप होता है।

टामोर्ण ।   ५ ४

अर्थ—अकारान्त शब्द के अनन्तर टा, आम् इनको णकार होता है।

भिसो हिं ।   ५ ५

अर्थ—अकारान्त शब्द के अनन्तर भिस को हिं आदेश होता है।

ङसेरादोदुहयः ।   ५ ६

अर्थ—अकारान्त के बाद पञ्चमी के एक वचन ङस् को आ दो दु तथा हि ये आदेश होते हैं।

भ्यसो हितो सुतो ।   ५ ७

अर्थ—अकारान्त शब्द के अनन्तर भ्यस् को हितो तथा सुतो आदेश होते हैं।

ङसोस्स ।   ५ ८

अर्थ—अकारान्त के अनन्तर ङस् को स्स आदेश होता है।

ङेरेम्मी ।   ९

अर्थ—अकारान्त के अनन्तर ङे को ए तथा म्मि आदेश होते हैं।

सुप सुः ।   ५

अर्थ—अकारान्त के अनन्तर सुप् को सु आदेश होता है।

जश् शस ङस्याम्सु दीर्घ ।   ५ ११

अर्थ—जशादि के परे अकार को आकार होता है।

एत् सुप्यङिङसो ।   ५ १२

अर्थ—सुप् परे होने पर ङि तथा ङस् को छोड़कर अ को ए होता है।

क्वचिद् ङसि ङ्योर्लोप ।   ५ १३

अर्थ—कहीं पर ङसि तथा ङि परे होने पर अकार का लोप होता है।

इदुतो शसो णो ।   ५ १४

अर्थ—इकारान्त तथा उकारान्त से परे शस् को णो होता है।

क्त्वा ऊण । ४ २३

अर्थ—क्त्वा प्रत्यय को ऊण आदेश होता है।

तृन इरः शीले । ४ २४

अर्थ—शील या स्वभाव अर्थ में जो तृन् प्रत्यय होता है उसको इर आदेश होता है।

आल्विल्लोल्लालवन्तेन्ता मतुप । ४ २५

अर्थ—मतुप् प्रत्यय के स्थान पर आलु, इल्ल आल वन्त इन्त ये आदेश होते हैं।

विद्युत् पीताभ्यां लः । ४ २६

अर्थ विद्युत् तथा पीत शब्दों को स्वार्थ में ल प्रत्यय विकल्प से होता है।

वृन्दे वो रः । ४ २७

अर्थ—वृन्द शब्द में वकार से परे स्वार्थ में विकल्प से र का प्रयोग होता है।

करेण्वां रणोः स्थिति परिवृत्ति । ४-२८

अर्थ—करेणु शब्द में र तथा ण का स्थान परिवर्तन हो जाता है।

आलाने लनोः । ४ २९

अर्थ—आलान शब्द में ल तथा न का (केवल इन् मात्र का) स्थान परिवर्तन होता है।

बृहस्पतौ बहोर्भयौ । ४ ३०

अर्थ—बृहस्पति शब्द मे ब तथा ह को क्रमशः भ तथा य होते हैं।

मलिने लिनोरिलौ वा । ४ ३१

अर्थ—मलिन शब्द मे लि तथा न को क्रम से इ तथा ल विकल्प से होते हैं।

गृहे घरोऽपतौ । ४ ३२

अर्थ—गृह शब्द को घर आदेश होता है पर पति शब्द के योग में नहीं होता।

दाढादयो बहुलम् । ४ ३३

अर्थ—दंष्ट्रा आदि शब्दों के स्थान पर दाढ़ आदि शब्द विकल्प से निपातित होते हैं।

स्त्रिया मात एत्। ५ २८

अर्थ—स्त्रीलिंग में आमन्त्रण अर्थ में सु विभक्ति के परे आकार को एकार होता है।

ईदूतोर्ह्रस्व । ५ २९

अर्थ—आमन्त्रण में ईकार तथा ऊकार को ह्रस्व होता है।

सोर्बिन्दुर्नपुंसके। ५ ३

अर्थ—नपुंसक लिंग में सु को बिन्दु होता है।

ऋत आरः सुपि। ५ ३१

अर्थ—ऋकारान्त शब्द को सुप् परे होने पर आर् आदेश होता है।

मातुरात्। ५ ३२

अर्थ—मातृ सम्बन्धी ऋकार को आकार होता है।

उर्जशसटाङस्सुप्सुवा। ५ ३३

अर्थ—जस् शस टा ङस् सुप् तथा सु परे होने पर ऋकार को विकल्प से उ होता है।

पितृ भ्रातृ जामातृ णामर। ५ ३४

अर्थ—पितृ आदि शब्दों के ऋ को सुप् होने पर अर् होता है।

आ च सौ। ५ ३५

अर्थ—सुप परे होने पर पितृ आदि को आ होता है।

राज्ञश्च। ५ ३६

अर्थ—राजन् शब्द को सु विभक्ति के परे आकारादेश होता है।

आमन्त्रणे वा बिन्दु। ५ ३७

अर्थ—राजन् शब्द को आमन्त्रण अर्थ मे विकल्प से बिन्दु होता है।

जश्शस्ङसां णो। ५ ३८

अर्थ—राजन् शब्द से परे जस् शस् तथा ङस् को णो आदेश होता है।

शसपत्। ५ ३९

अर्थ—राजन् शब्द से परे शस को ए आदेश होता है।

आमोर्णं। ५ ४

अर्थ—राजन् शब्द से परे षष्ठी के बहुवचन आम् को ण आदेश होता है।

टाणा। ५ ४१

अर्थ—राजन् शब्द से परे टा को णा आदेश होता है।

ङसस्य ड्रित्व वामयलोपश्च। ५ ४२

अर्थ—राजन् शब्द से परे ङस् तथा टा को विकल्प से ड्रित्व होता है और अन्त्य का लोप होता है।

अमो वा । ५ १५

अर्थ—इकारान्त तथा उकारान्त से परे अम् को विकल्प से म् होता है ।

जसश्च णो सुत्वम् । ५ १६

अर्थ—इकारान्त तथा उकारान्त से परे जस् को ओकार होता है। इकार तथा उकार को ईकार तथा ऊकार होता है और ण भी होता है ।

टाणा । ५ १७

अर्थ—इकारान्त तथा उकारान्त से परे टा को ण होता है ।

सुभिस्सुप्सुदीर्घः । ५ १८

अर्थ—इकारान्त तथा उकारान्त से परे सु, भिस् तथा सुप को दीर्घ होता है ।

स्त्रियां शस उदोतौ । ५ १९

अर्थ—स्त्रीलिंग में शस को उत् तथा ओत् आदेश होते हैं ।

जसो वा । ५-२०

अर्थ—स्त्रीलिंग में जस् को विकल्प से उत् तथा ओत् होते हैं ।

अमि ह्रस्वः । ५ २१

अर्थ—स्त्रीलिंग में अम् परे होने पर ह्रस्व होता है ।

टाङस् ङीना मिदेदात । ५ २२

अर्थ—टा ङस् तथा ङि को स्त्रीलिंग में इत् एत् अत् तथा आत् ये आदेश होते हैं ।

नातोऽदातौ । ५ २३

अर्थ—आकारान्त स्त्रीलिंग शब्द के अनन्तर टा ङस् ङि को अत् तथा आत् आदेश नहीं होते ।

आदीतौ बहुलम् । ५ २४

अर्थ—स्त्रीलिंग में आकारान्त शब्द के आ के स्थान पर आकार तथा ईकार विकल्प से होते हैं ।

न नपुंसके ५ २५

अर्थ—नपुंसक लिंग में प्रथमा के एक वचन में दीर्घ नहीं होता ।

इज्जश् शसोर्दीर्घश्च । ५ २६

अर्थ—नपुंसक लिंग में जस् तथा शस् के स्थान पर इकार होता है और पूर्व को दीर्घ होता है ।

नामन्त्र्ये सावोत्वं दीर्घ बिन्दू । ५ २७

अर्थ—आमन्त्रण प्रतीत होने पर सु विभक्ति में ओकार दीर्घ तथा बिन्दु नहीं होते ।

के हिं। ६-८

अर्थ—किम आदि शब्दों से परे ङि को हिं आदेश विकल्प से होता है।

आहे इआ काले। ६-९

अर्थ—कि यद् तथा तद् शब्दों से ङि के काल में आहे तथा इआ आदेश होते हैं।

तो दो ङसेः। ६-१०

अर्थ—कि यद् तथा तद् शब्दों से परे ङस् को तो तथा दो आदेश होते हैं।

तद ओत्व। ६-१०

अर्थ—तद् शब्द से परे ङ स को ओकार विकल्प स होता है।

ङसा से। ६-११

अर्थ—तद् शब्द को ङस के साथ से आदेश होता है।

आमा सिं। ६-१२

अर्थ—तद् शब्द को आम् विभक्ति के साथ सिं आदेश होता है।

किम कः। ६-१३

अर्थ—किं शब्द को सुप परे होने पर क आदेश होता है।

इदम इमः। ६-१४

अर्थ—सुप् परे होने पर इदम् शब्द को इम आदेश होता है।

स्मस्सिमोरद् वा। ६-१५

अर्थ—स्स तथा स्सि के परे होने पर इदम् को अद् आदेश होता है (विकल्प से)

ङे र्मेन हः। ६-१६

अर्थ—इदम् शब्द के मकार के साथ ङि के स्थान पर विकल्प से ह आदेश होता है।

न त्थ। ६-१७

अर्थ—इदम् शब्द से परे ङ के स्थान पर त्थ आदेश नहीं होता। ६ २ से प्राप्त था

नपुंसके स्वमो रिदमिणमिणमो। ६-१८

अर्थ—नपुंसक लिंग में इदम् शब्द से सु तथा अम् परे होने पर विभक्ति के साथ इदं इणं तथा इणमो ये तीन आदेश होते हैं।

एतद सा ओ त्व वा। ६-१९

अर्थ—एतद् शब्द को सु विभक्ति परे होने पर विकल्प से ओत्व होता है।

तुमाइ च। ६ ३३

अर्थ—युष्मद् शब्द से आङ् परे होने पर तुमाइ आदेश होता है।

तुम्मेहिं तुम्हे हिं तुम्मेहिं भिसि। ६ ३४

अर्थ—युष्मद् शब्द को भिस् परे होने पर तुब्भेहि तुम्हेहि और तुम्मेहि आदेश होते है।

ङसो तत्तो तइत्तो तुमाद्दो तुमादु तुमाहि। ६ ३५

अर्थ—युष्मद् शब्द को ङस परे होने पर तत्तो तइ त्तो तुमाओ तुमादु तथा तुमाहि आदेश होते हैं।

तुम्हाहिंतो तुम्हासुन्तो भ्यसि। ६ ३६

अर्थ—युष्मद् शब्द को भ्यस (पचंमी का बहुवचन) पर होने पर तुम्हाहितो तथा तुम्हासुन्तो आदेश होते हैं।

वो भे तुम्हाणं तुम्हाण मामि। ६ ३७

अर्थ—युष्मद् शब्द को माम् परे होने पर वो भे तुम्हाणं तथा तुम्हाण आदेश होते हैं।

ङौ तुमम्मि। ६ ३८

अर्थ—युष्मद शब्द को ङि परे होने पर तुमम्मि आदेश होता है।

तुम्हेसु तुम्हेसु सुपि। ६ ३९

अर्थ—युष्मद् शब्द को सुप परे होने पर तुम्हेसु तथा तुम्हेसु आदेश होते हैं।

अस्मदो हं अहं अहअं सा। ६ ४०

अर्थ—अस्मद शब्द को सु परे होने पर हं अहं अहअं आदेश होते हैं।

अहम्मि अमि च। ६ ४१

अर्थ—अस्मद् पद को अम परे होने पर अहम्मि आदेश होता है।

म ममं। ६ ४२

अर्थ—अस्मद् पद को अम परे होने पर मं ममं आदेश होते हैं।

अम्हे जसशसोः। ६ ४३

अर्थ—अस्मद पद को जस तथा शस परे होने पर अम्हे आदेश होता है।

णो शसि। ६ ४४

अर्थ—अस्मद् शब्द को शस परे होने पर णो आदेश होता है।

आदि मे ममाइ। ६ ४५

अर्थ—अस्मद् पद को आ (टा) परे होने पर मे तथा ममाइ आदेश होते हैं।

त्तो ङसेः । ६-२०

अर्थ—एतद् शब्द से परे ङस् को त्तो आदेश होता है।

त्तो त्थयोस्त लोप । ६-२१

अर्थ—त्तो तथा त्थ परे होने पर एतद् के तकार का लोप होता है।

तदेतदोः स सावनपुंसके । ६-२२

अर्थ—नपुंसकलिंग को छोड़ कर सु परे होने पर तद् तथा एतद् के तकार को सकार होता है।

अद सो दो मु । ६-२३

अर्थ—सुप् परे होने पर अदस् के दकार को मु आदेश होता है।

इदम सो । ६-२४

अर्थ—इदम् शब्द के दकार को सु परे होने पर हकारादेश होता है।

पदस्य । ६-२५

अर्थ—यह अधिकार सूत्र है। इसके आगे जो कुछ भी कार्य होगा वह पद को होगा।

युष्मदस्तं तुमं । ६-२६

अर्थ—सु परे होने पर युष्मद् को तं तथा तुमं आदेश होते हैं।

तु अमि । ६-२७

अर्थ—युष्मद् शब्द को अम् परे होने पर तु आदेश विकल्प से होता है।

तुम्हे तुज्झे जसि । ६-२८

अर्थ—युष्मद शब्द को जस विभक्ति होने पर तुम्हे तथा तुज्झे आदेश होते हैं।

वो च शसि । ६-२९

अर्थ—युष्मद् शब्द से शस् परे होने पर युष्मद् को वो आदेश विकल्प से होता है

टा ङयो स्तइ तए तुमए तुमे । ६-३०

अर्थ—युष्मद शब्द से टा तथा ङि विभक्ति परे होने पर युष्मद् के स्थान पर तइ, तए, तुमए तथा तुमे ये चार आदेश होते हैं।

ङसि तुमो तुह तुम्ह तुज्झ तुम्भा । ६-३१

अर्थ—युष्मद शब्द से ङसि में युष्मद् को तुमो तुह तुम्ह तुज्झ तथा तुम्भ आदेश होते हैं।

ङाङि च ते दे । ६-३२

अर्थ—युष्मद् शब्द से तृतीया एकवचन आङ तथा ङसि में भी ते तथा दे आदेश होते हैं।

आमामोण्हं । ६ ५९

अर्थ—द्वि त्रि तथा चतुर् शब्दों को आम् परे होने पर ण्हं आदेश होता है ।

शेषोऽदन्तवत् । ६ ६०

अर्थ—शेष विभक्तियों में अदन्त शब्दों के समान कार्य होता है ।

न ङि ङस्योरेदातौ । ६ ६१

अर्थ—इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों को ङि तथा ङसि विभक्ति में अदन्त शब्दों के समान एकार तथा आकार नहीं होता ।

एम्यसि । ६ ६२

अर्थ—इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों को भ्यस् परे होने पर अदन्त शब्दों के समान एकार नहीं होता ।

द्विवचनस्य बहुवचनम् । ६-६३

अर्थ—सब विभक्तियों में सबन्त तथा तिङन्त दोनों में द्विवचन को बहुवचन होता है ।

चतुर्थ्याः षष्ठी । ६ ६४

अर्थ—चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति होती है ।

सातवां परिच्छेद

तत्तिपोरिदेतौ । ७-१

अर्थ—त तथा तिप् इनके स्थान पर इत् तथा एत् आदेश होते हैं ।

थासिपोः सि से । ७ २

अर्थ—थास् और सिप् इन दोनों में से एक एक के स्थान पर सि तथा से ये आदेश होते हैं ।

इड मिपोर्मि । ७ ३

अर्थ—इट् तथा मिप् इन के स्थान पर मि होता है ।

न्तिहेत्थामोमुमा बहुषु । ७-४

अर्थ—बहुवचन में झि के स्थान पर न्ति ह इत्था मो मु तथा म ये आदेश होते हैं ।

अत ए से । ७ ५

अर्थ—अत् निर्, सिप् तथा थास् इनको ए तथा से आदेश होते हैं ।

मस्तेर्लोपः । ७-६

अर्थ—थास् तथा सिप् परे होने पर अस् धातु का लोप होता है ।

ङौ मइ मए। ६.४६

अर्थ—अस्मद् शब्द को ङि परे होने पर मइ तथा मए आदेश होते हैं।

अम्हेहिं भिसि। ६.४७

अर्थ—अस्मद् पद को भिस् परे होने पर अम्हेहिं आदेश होता है।

मत्तो मइत्तो ममादो ममादु ममाहिन्तो। ६.४८

अर्थ—अस्मद् पद को ङस् परे होने पर मत्तो मइत्तो ममादो ममादु तथा ममाहि आदेश होते हैं।

अम्हाहिंतो अम्हासु तो भ्यसि। ६.४९

अर्थ—अस्मद् शब्द को भ्यस परे होने पर अम्हाहिंतो तथा अम्हासुंतो आदेश होते हैं।

मे मम मह मज्झ ङसि। ६.५०

अर्थ—अस्मद् पद को ङस् परे होने पर मे मम मह तथा मज्झ आदेश होते हैं।

णम्हाणो अम्ह अम्हाणं अम्हे आमि। ६.५१

अर्थ—अस्मद् शब्द को आम् परे होने पर णम्हाणो अम्ह अम्हाणं तथा अम्हे आदेश होते हैं।

ममम्मि ङौ। ६.५२

अर्थ—अस्मद् पद को ङि परे होने पर ममम्मि आदेश होता है।

अम्हेसु सुपि। ६.५३

अर्थ—अस्मद् पद को सुप् परे होने पर अम्हेसु आदेश होता है।

द्वेर्दो। ६.५४

अर्थ—सुप् परे होने पर द्वि शब्द को दो आदेश होता है।

त्रेस्ति। ६.५५

अर्थ—सुप् परे होने पर त्रि शब्द को ति आदेश होता है।

तिण्णि जस्शस्भ्याम। ६.५६

अर्थ—त्रि शब्द को जस् तथा शस् में तिण्णि आदेश होता है।

द्वेर्दुवे दोण्णि वा। ६.५७

अर्थ—द्वि शब्द को जस् तथा शस् परे होने पर दुवे तथा दोण्णि आदेश होते हैं।

चतुरश्चत्तारो चत्तारि। ६.५८

अर्थ—चतुर् शब्द को जस् तथा शस परे होने पर चत्तारो तथा चत्तारि आदेश होते हैं।

न्तुह्मीबहुषु। ७-१९

अर्थ—विधि आदि लिंगों में बहुवचन में यथा क्रम न्तु ह तथा मो ये आदेश होते हैं।

वर्तमानभविष्यदनद्यतनयोर्ज्ज ज्जावा। ७-२०

अर्थ—वर्तमान भविष्यत् तथा अनद्यतन कालों में विधि आदि लिंगों में ज्ज तथा ज्जा आदेश विकल्प से होते हैं।

मध्येच। ७-२१

अर्थ—वर्तमान भविष्यत् तथा अनद्यतन कालों में विधि आदि लिंगों में धातु तथा प्रत्यय के मध्य में ज्ज तथा ज्जा विकल्प से होते हैं।

नानेकाच। ७-२२

अर्थ—अनेकाच् धातुओं में मध्य में ज्ज तथा ज्जा नहीं होते पर धातु के अन्त में होते हैं।

ईअभूते। ७-२३

अर्थ—भूत काल मे धातु के प्रत्यय को ईअ आदेश होता है।

एकाचो हीअ। ७-२४

अर्थ—भूतकाल में एकाच धातु से हीअ आदेश होता है।

अस्तेरासि। ७-२५

अर्थ—भूतकाल में अस् धातु को आसि यह निपात होता है।

णिच एदादेरत आत्। ७-२६

अर्थ—णिच् प्रत्यय को एकार होता है और धातु के आदि अकार को आ होता है।

आवेच। ७-२७

अर्थ—णिच को आवे आदेश होता है और अ को आ भी होता है।

आवि क्त कर्मभावेषु वा। ७-२८

अर्थ—भाव कर्म में तथा क्त प्रत्यय के परे होने पर णिच् को आवि आदेश विकल्प से होता है।

नैदावे। ७-२९

अर्थ—क्त तथा भावकर्म में णिच् प्रत्यय को ए तथा आवे आदेश नहीं होते हैं।

अतआमिपिवा। ७-३०

अर्थ—अकारान्त धातु से मिप् परे होने पर विकल्प से आ होता है।

इच्च बहुषु। ७-३१

अर्थ—बहुवचन में मि तथा मिप परे होने पर अकार को इकार तथा आकार होता है।

मिमोमुमाना मधो हश्च। ७-७

अर्थ—अस् धातु के परे मि मो मु तथा म के होने पर इनके नीचे ह होता है और अस् का लोप हो जाता है।

यक ईअ इज्जौ। ७-८

अर्थ— यक के स्थान पर ईअ तथा इज्ज आदेश होते हैं।

नान्त्यद्वित्वे। ७-९

अर्थ—धातु के अन्त्य को द्वित्व होने पर यक को ईअ तथा इज्ज आदेश होते हैं।

न्तमाणौ शतृशानचोः। ७-१०

अर्थ—शतृ तथा शानच् प्रत्ययों को क्रम से न्त तथा माण आदेश होते हैं।

ई च स्त्रियाम्। ७-११

अर्थ—स्त्रीलिंग में शतृ तथा शानच् को ईकारादेश होता है तथा न्त माण भी होते हैं।

धातोर्भविष्यति हिः। ७-१२

अर्थ—भविष्यत् काल में धातु के आगे हि का प्रयोग करना चाहिये।

उत्तमे स्सा हा च। ७-१३

अर्थ— भविष्यत् काल में उत्तम पुरुष में स्सा तथा हा का प्रयोग करना चाहिये और हि का भी।

मिना स्सं वा। ७-१४

अर्थ—भविष्यत् काल के उत्तम पुरुष में मि ना के साथ धातु के बाद स्सं का प्रयोग होना चाहिये।

मोमुमैर्हिस्साहित्था। ७-१५

अर्थ—भविष्यत् काल के उत्तम पुरुष में मो मु, म के साथ हिस्सा तथा हित्था आदेश होते हैं (विकल्प से)।

कृदाश्रु वचि गमि रुदि विदि दृशाम् काहं दाहं सोच्छं वोच्छं गच्छं रोच्छं वेच्छं दच्छं। ७-१६

अर्थ—भविष्यत् काल में उत्तम पुरुष के एक वचन में कृञ् आदि के स्थान पर काहं आदि आदेश यथा क्रम होते हैं।

श्रुत्यादीनां त्रिष्वप्यनुस्वारवर्जं हिलोपश्च वा। ७-१७

अर्थ—श्रु आदि धातुओं को तीनों पुरुषों में भविष्यत् काल में सोच्छं आदि आदेश होते हैं।

ज्जसुमुविध्यादिष्वेकस्मिन्। १

अर्थ—विधि आदि में एक वचन को क्रम से ज सु, मु आदेश होते हैं।

कृष कुस्रोता । ८ ११

अर्थ—कृकृत्न करवो इस धातु के प्रमाण में विकल्प से कुस आदेश होता है

समो संभाषः । ८-१४

अर्थ—अभिकूमी मात्र विमामे इस धातु को संभाव आदेश होता है ।

महे गेंयह । ८ १५

अर्थ—ग्रह उपादाने इस धातु को गेण्ह आदेश होता है ।

घेत् क्त्वा तुमुन् तव्येषु । ८ १६

अर्थ—क्त्वा तुमुन् तथा तव्यत प्रत्यों के परे होने पर ग्रह धातु को घेत् आदेश होता ।

कृष का भूत भविष्यतोश्च । ८ १७

अर्थ—भूत तथा भविष्यत काल में कृञ धातु को का आदेश होता है ।

स्मरतेर्भर सुमरौ । ८ १८

अर्थ—स्मृचिन्तायाम् इस धातु को भर तथा समर आदेश होते हैं ।

भियोभाबीहौ । ८ १९

अर्थ—ञिभीभय इस धातु को भा तथा बीह आदेश होते हैं ।

जिघ्रते पा पाओ । ८ २

अर्थ—घ्राणस्यग्रहणे इस धातु को पा तथा पाअ आदेश होते हैं ।

म्लवावामौ । ८-२१

अर्थ—म्लै हर्षक्षये इस धातु को वा तथा वाम आदेश होते हैं (विकल्प से)

तृपथिप । ८ २२

अर्थ—तृप तृप्ती इस धातु को थिप आदेश होता है ।

स्रो शायामुणो । ८ २३

अर्थ—ज्ञामवबोधने इस धातु को जाम तथा मुण आदेश होते हैं ।

उदस्पर्शोमः । ८ २४

अर्थ—उदस्पृष्टकायाणाषि इस धातु के स को म होता है ।

स्थाध्यागानां ठाअ झाअ गाआ । ८ २५

अर्थ—ष्ठागति निवृत्ती ध्यै चिन्तायाम् गै शब्दे इन धातुओं को क्रम से ठाअ झाअ तथा गाअ आदेश होते हैं ।

ठाझागाश्च वर्तमान भविष्य द्विध्याद्येक वचनेषु । ८ २६

अर्थ—ष्ठा ध्या गा को ठा झा गा आदेश भी होते हैं वर्तमान भविष्य व तथा विधि आदि एक वचन में ।

ध्यादिधात्वा ध्यायौ । ८ २७

अर्थ—धातुधारण धावजदे इन दोनों धातुओं को दा धा आदेश होते हैं वर्तमान भविष्यत् तथा विधि आदि के एक वचन में ।

कृष कुष्पोवा। ८-११

अर्थ—कृकृष्ण करण इस धातु के प्रयाग मे विकल्प से कुन आदेश होता है

अभा जंमाम्रः। ८-१४

अर्थ—अभिभूमी गात्र विनामे इस धातु को जंमाव आदेश होता है।

ग्रहे गेण्ह। ८ १५

अर्थ—ग्रह उपादाने इस धातु को गेण्ह आदेश होता है।

घेत् क्त्वा तुमुन् तव्येषु। ८ १६

अर्थ—क्त्वा तुमुन् तथा तव्यत प्रत्ययों के परे होने पर ग्रह धातु को घेत् आदेश होना।

कृम का भूत भविष्यतोश्च। ८ १७

अर्थ—भूत तथा भ। रत काल में कृम धातु को का आदेश होता है।

स्मरतेर्भर सुमरौ। ८ १८

अर्थ—स्मृचिन्तायाम् इस धातु को भर तथा सुमर आदेश होते हैं।

बिभेतेर्भाबीहौ। ८ १९

अर्थ—ञिभीभय इस धातु को भा तथा बीह आदेश होते हैं।

जिघ्रते पा पाओ। ८ २

अर्थ—घ्राणगन्धग्रहणे इस धातु को पा तथा पाअ आदेश होते हैं।

स्नवावाओ। ८ २१

अर्थ—स्न इयक्षय इस धातु को वा तथा वाअ आदेश होते हैं (विकल्प से)

तृपःथिप। ८ २२

अर्थ—तृप तृप्तौ इस धातु को थिप आदेश होता है।

ब्रा वाणमुणौ। ८ २३

अर्थ—ज्ञा अवबोधने इस धातु को जाण तथा मुण आदेश होते हैं।

उदस्पर्शोमः। ८ २४

अर्थ—उदस्यत्साथावर्षि इस धातु के त को म होता है।

स्थाध्यागानां ठाम झाअ गाअ। ८ २५

अर्थ—ष्ठागति निवृत्ती ध्यै चिन्तायाम में शब्दे इन धातुओं को क्रम से ठाअ झाअ तथा गाअ आदेश होते हैं।

ठाझागास्य वर्तमान भविष्य द्विध्याद्येक वचनेषु। ८ २६

अर्थ—ष्ठा ध्या गा को ठा झा गा आदेश भी होते हैं वर्तमान भविष्य द तथा विधि आदि एक वचन मे।

ग्लादिपाय्यग्लायौ। ८ २७

अर्थ—ग्लाद्यर्थानां धावन्ते इन दोनों धातुओं को ठा धा आदेश होते हैं वर्तमान भविष्यत् तथा विधि आदि क एक वचन मे।

ग्रसेर्घिसः । ८.२८

अर्थ—ग्रसु अदने इस धातु को घिस आदेश होता है।

जिघ्रतेर्जिग्घः । ८.२९

अर्थ—जिघ्रा धमने इस धातु को जिग्घ होता है।

क्लिदः किल्लः । ८.३०

अर्थ—क्लिदू शब्द निमिमने इस धातु को किल्ल आदेश होता है।

स्त्यै ठेव । ८.३१

अर्थ—निपूर्वक ष्ठीव धातु को ठेव आदेश होता है।

उद्ध्मो धुमा । ८.३२

अर्थ—ध्मा शब्दाग्नि संयोगयोः उत् उपसर्ग पूर्वक इस धातु को धुमा आदेश होता है।

श्रदोधोदहः । ३३

अर्थ—श्रत् पूर्वक 'डुधाञ् धारणपोषणयो' इस धातु को दह आदेश होता है।

आङ्गाहेर्वाह । ८.३४

अर्थ—गाहू विलोडने-आङ पूर्वक इस धातु को वाह आदेश होता है।

कासेर्वासः । ८.३५

अर्थ—अव उपसर्ग पूर्वक कासृ शब्द कुत्सायाम इस धातु को वास आदेश होता है।

निरोमाङोमाणः । ८.३६

अर्थ—निर उपसर्ग पूर्वक माङ माने इस धातु को माण आदेश होता है।

क्षियोझिज्झ । ८.३७

अर्थ—क्षि क्षये इस धातु को झिज्झ आदेश होता है।

भिदिच्छिदो रन्त्यस्य न्दः । ८.३८

अर्थ—भिदिर् तथा छिदिर् इन धातुओं के अन्त्य को न्द होता है।

क्वथेर्ढः । ८.३९

अर्थ—क्वथ निष्पाके इस धातु के अन्त्य को ढ होता है।

वेष्टेढः । ८.४०

अर्थ—वेष्ट वेष्टने इस धातु के अन्त्य को ढ होता है।

उत्समोर्ल्लः । ८.४१

अर्थ—उत् तथा सम् उपसर्ग पूर्वक वेष्ट धातु के अन्त्य को ल्ल होता है।

शाकेस्तरयम सीरा । ८-७०

अर्थ—शकम् शक्नो इस धातु को तर यम तथा सीर आदेश होते हैं।

शेषाणामदन्तता । ८ ७१

अर्थ—इसी प्रकार अन्य धातुओं को भी अदन्त के समान कार्य होते हैं।

९वां परिच्छेद

निपाताः ९ १

अर्थ—यह अधिकार सूत्र है। इसके आगे निपातों का वर्णन है।

हुं दान पृच्छा निर्धारणेषु। ९ २

अर्थ—दान पृच्छा तथा निर्धारण अर्थों में हुं निपातित होता है।

णिम णेम अवधारणे। ९ ३

अर्थ—अवधारण अर्थ में णिम तथा णेम निपातित हैं।

ओ सूचना पश्चात्ताप विकल्पेषु। ९ ४

अर्थ—सूचना पश्चात्ताप तथा विकल्प अर्थों में 'ओ' शब्द निपात संज्ञक होता है।

इर किर किला अनिश्चिताख्याने ९ ५

अर्थ—अनिश्चित आख्यान में इर किर तथा किला निपात संज्ञक होते हैं।

हुं क्खु निश्चय वितर्क सम्भावनेषु। ९ ६

अर्थ—निश्चय वितर्क तथा सम्भावना अर्थों में हुं तथा क्खु निपात संज्ञक होते हैं।

णवर केवले। ९ ७

अर्थ—केवल अर्थ में णवर निपात संज्ञक होता है

आनन्तर्ये णवरि। ९-८

अर्थ - आनन्तर्य अर्थ में णवरि निपात संज्ञक होता है।

किणो प्रश्ने। ९ ९

अर्थ—प्रश्नवाची में किणो निपात संज्ञक है।

अम्मो दुःख सूचना सम्भावनेषु। ९ १०

अर्थ—दुःख सूचना तथा सम्भावना अर्थों में 'अम्मो' निपात संज्ञक है।

अलाहि निवारणे। ९ ११

अर्थ—निवारण अर्थ में अलाहि शब्द निपात संज्ञक है।

अइ वणे संभावणे। ९ १२

अर्थ—सम्भावना अर्थ में अइ तथा वणे निपात संज्ञक हैं।

अवि वैपरीत्ये । ९ १३

अर्थ—विपरीत अर्थ में अवि निपात संज्ञक होता है।

णु छ मायाम् । ९ १४

अर्थ—कुत्सा या निन्दा अर्थ में णु निपात संज्ञक है।

रे अरे हिरे सम्भाषण रतिकलहाक्षेपेषु । ९ १५

अर्थ—रति कलह तथा आक्षेप अर्थो मे रे अरे तथा हिरे निपात संज्ञक है।

मिव पिव विअ इवार्थे । ९ १६

अर्थ—इव के अर्थ में मिव पिव तथा विअ निपात संज्ञक है।

अम्म आमन्त्रणे । ९ १७

अर्थ—आमन्त्रण अर्थ में अम्म शब्द निपातित है।

शेषः संस्कृतात् । ९ १८

अर्थ—शेष शब्द संस्कृत के अनुसार है।

दसवाँ परिच्छेद

(इस परिच्छेद में पैशाची प्राकृत का कार्य विधान किया गया है)

पैशाची । १० १

अर्थ—यह अधिकार सूत्र है।

प्रकृतिः शौरसेनी । १० २

अर्थ—पैशाची प्राकृत की प्रकृति शौरसेनी प्राकृत है।

वर्गाणां तृतीय चतुर्थयोरयुजोरनाद्योराद्यौ । १० ३

अर्थ—वर्गों के अयुक्त तथा अनादि तीसरे तथा चौथे वर्णों को क्रमश: पहले और दूसरे हो जाते हैं।

इवस्य पिवः । १० ४

अर्थ—इव के स्थान पर पिव आदेश होता है।

णो नः । १० ५

अर्थ—णकार के स्थान पर नकार होता है।

ष्टस्य सटः । १० ६

अर्थ—ष्ट इसके स्थान पर सट आदेश होता है।

स्नस्य सनः । १०-७

अर्थ—स्न के स्थान पर सन आदेश होता है।

र्यस्य रिअः । १० ८

अर्थ—र्य के स्थान पर रिअ आदेश होता है।

ज्ञस्यञ्ञः । १०-९

अर्थ—ज्ञ के स्थान पर ञ्ञ आदेश होता है ।

कन्यायांन्यस्य । १०-१०

अर्थ—कन्या शब्द में न्या के स्थान पर ञ्ञ आदेश होता है ।

ग्म ब्ब । १०-११

अर्थ—शौरसेनी द्वारा प्राप्त ग्म को ब्ब होता है ।

राज्ञो राचि टा ङ सि ङ सु ङिपु वा । १०-१२

अर्थ—राजन् शब्द को टा ङसि तथा ङि में राचि आदेश विकल्प से होता है ।

क्त्व स्तूनं । १०-१३

अर्थ—क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर तून आदेश होता है ।

हृदयस्य हितअकं । १०-१४

अर्थ—हृदय के स्थान पर हित अकं शब्द निपातित है ।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

(इस परिच्छेद में मागधी प्राकृत का काम वर्णित है)

मागधी । ११-१

अर्थ—यह अधिकार सूत्र है ।

प्रकृति शौरसेनी । ११-२

अर्थ—मागधी की प्रकृति शौरसेनी है ।

षसो शः । ११-३

अर्थ—ष तथा स के स्थान पर श होता है ।

जो य ११-४

अर्थ—जकार को यकार होता है ।

चवर्गस्य स्पष्टता तथोच्चारणः । ११-५

अर्थ—चवर्ग का स्पष्ट उच्चारण होना चाहिये ।

हृदयस्य हडक्कः । ११-६

अर्थ—हृदय को हडक्क आदेश होता है ।

र्यं र्जं योर्य्यं । ११-७

अर्थ—र्य तथा र्ज के स्थान पर य्य आदेश होता है ।

क्षस्य स्कः । ११-८

अर्थ—क्ष के स्थान पर स्क आदेश होता है ।